वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००
विवेक ज्योति
स्वामी विवेकानन्द का
१५०वाँ जन्मवर्ष
वर्ष ५१ अंक १० अक्तूबर २०१३
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (छ.ग.)

।। आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ।।

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अक्तूबर २०१३

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ५१
अंक १०

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–
(सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –
वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

प्रिंट आर्डर - २३,०००

Phone (033) 2654-1144, 1180, 5700
Fax : (033) 2654-9885
e-mail : rkmrelief@gmail.com
relief@belurmath.org
Website : http://www.belurmath.org

रामकृष्ण मिशन (राहत विभाग)
पो. बेलूड़ मठ, जिला हावड़ा
पश्चिम बंगाल, पिन ७११ २०२

उत्तराखण्ड में बाढ़-राहत का कार्य

संक्षिप्त रिपोर्ट

उत्तराखण्ड के बहुत-से भागों में बादल फटने तथा सहसा बाढ़ आ जाने से जो अपूरणीय विध्वंस हुआ है, उससे पीड़ित जनता तथा तीर्थयात्रियों को राहत पहुँचाने के निमित्त रामकृष्ण मिशन (बेलूड़ मठ) ने, अपनी कनखल (हरिद्वार) शाखा के द्वारा प्रभावित क्षेत्रों में सेवा-कार्य आरम्भ कर दिया है।

रुद्रप्रयाग से २५ कीलोमीटर दूर अगस्त्य-मुनि नामक स्थान पर एक राहत-शिविर की स्थापना की गयी है। हजारों प्रभावित लोगों में भोजन के पैकेट, शिशु आहार तथा पेय जल वितरित किये जा रहे हैं। भोजन के हर पैकेट में ब्रेड, चिउड़ा, आटा, भुने हुए चने, चीनी, दूध का पाउडर, रस्क, पूरियाँ, अचार, मिठाइयाँ, मोमबत्ती, दियासलाई आदि रखे गये हैं। इसके सिवा, पास ही एक चिकित्सा-शिविर की भी स्थापना हुई है, जिसके के माध्यम से सेवाभावी चिकित्सकों की टोली पीड़ित लोगों को अत्यावश्यक प्राथमिक चिकित्सा प्रदान कर रही है। आगे की परिस्थितियों को देखते हुए इस राहत-कार्य में और भी विस्तार होने की सम्भावना है।

इस कल्याणकारी कार्य में हमें जिन लोगों से सहायता मिली है, उन्हें धन्यवाद देते हुए हम बाकी लोगों से भी इस कार्य में आर्थिक सहयोग देने का अनुरोध करते हैं। ''रामकृष्ण मिशन'' को दिये गये सभी दान आयकर अधिनियम के ८० जी धारा के अन्तर्गत करमुक्त है। दान की राशि नगद अथवा चेक या डिमाण्ड ड्राफ्ट ''रामकृष्ण मिशन'' (कलकत्ते में प्रदेय) के नाम से बनवाकर निम्न पते पर भेजे दें। इंटरनेट पर 'आनलाइन' दान की सुविधा भी उपलब्ध है। इसके लिये आप हमारे वेबसाइट (http://www.belurmath.org/donation cca/donation.php) पर जायँ। दानराशि कृपया निम्नलिखित पते पर भेजें : The General Secretary, Ramakrishna Mission (Relief Section) P.O. Belur Math, Howrah, W.B. - 711 202.

यह सहयोग राशि आप रामकृष्ण मिशन के अपने निकटतम शाखा-केन्द्र में भी जमा कर सकते हैं।

जून २६, २०१३
बेलूड़ मठ, हावड़ा

(स्वामी सुवीरानन्द)
सह-महासचिव

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।
(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।
(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।
(४) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य बातों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वर्ष ५१ अक्तूबर २०१३ अंक १०

पुरखों की थाती

जीर्यन्ते जीर्यतः केशा, दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः ।
क्षीयते जीर्यते सर्वं तृष्णैवैका न जीर्यते ।।३१५।।

– वृद्ध होते हुए व्यक्ति के केश जीर्ण होते जाते हैं, दाँत जीर्ण होते जाते हैं, सब कुछ जीर्ण होता जाता है, परन्तु एकमात्र उसकी तृष्णा वृद्ध या जीर्ण नहीं होती ।

ज्ञानम् उत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः ।
यथाऽऽदर्श-तले प्रख्ये पश्यत्मानम्-आत्मनि ।।३१६।।

– जैसे दर्पण के तल से धूल आदि गन्दगी को हटा देने के समान ही व्यक्ति के जीवन से कर्मों का क्षय हो जाने पर उसके अन्दर से ही ज्ञान का उदय होता है और वह आत्मा का दर्शन करता है ।

जीविते यस्य जीवन्ति लोके मित्राणि बान्धवाः ।
सफलं जीवितं तस्य को न स्वार्थाय जीवति ।।३१७।।

– इस संसार में उसी व्यक्ति का जीवन सफल एवं सार्थक है, जिसके जीवित रहने से सगे-सम्बन्धी तथा मित्र भी सुखी होते हैं । अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये तो पशु भी जी लेते हैं ।

तत्र मित्र न वस्तव्यं यत्र नास्ति चतुष्टयम् ।
ऋणदाता च वैद्यश्च श्रोत्रियः सजला नदी ।।३१८।।

– हे मित्र ! ये चार जहाँ न हों, वहाँ नहीं बसना चाहिए – ऋणदाता, चिकित्सक, वेदपाठी विद्वान् और जलयुक्त नदी ।

तपसा प्राप्यते स्वर्गः तपसा प्राप्यते यशः ।
आयुः प्रकर्षो भोगाश्च लभ्यन्ते तपसा विभो ।।३१९।।

– तप के द्वारा स्वर्ग मिलता है, तप के द्वारा यश प्राप्त होता है; आयु-समृद्धि तथा भोग भी तपस्या के द्वारा ही मिलते हैं ।

तद्दिनं दुर्दिनं मन्ये मेघाच्छन्नं न दुर्दिनम् ।
यद्दिनं हरि-संलाप-कथा-पीयूष-वर्जितम् ।।३२०।।

– जिस दिन आकाश बादलों से ढका रहता है, वह दिन दुर्दिन नहीं, बल्कि हमारे लिये तो वह दिन दुर्दिन है, जिस दिन हम भगवान की अमृतमय कथा से वंचित रह जाते हैं ।

तपोमूलम् इदं सर्वं यन्मां पृच्छसि पाण्डव ।
तदिन्द्रियाणि संयम्य तपो भवति नान्यथा ।।३२१।।

– हे युधिष्ठिर, जो कुछ भी तुमने पूछा है, उन सबका मूल तपस्या ही है । यह तपस्या किसी अन्य प्रकार से नहीं, वरन् इन्द्रिय-संयम के द्वारा ही सम्पन्न होती है ।

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः ।
स जीवति मनो यस्य मननेन हि जीवति ।।३२२।।

– जीवित रहना मात्र ही जीवन का उद्देश्य नहीं है, क्योंकि जीवित तो वृक्ष तथा पशु-पक्षी भी रहते हैं; केवल उसी का जीवित रहना सार्थक है, जो विचारपूर्वक जीवित रहता है ।

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्
महाजनो येन गतः स पन्थाः ।।३२३।।

– तर्कों में कोई स्थिरता नहीं है; वेद कई तरह के सिद्धान्त बताते हैं; कोई ऋषि-मुनि ऐसा नहीं, जिसके मत को अन्तिम प्रमाण माना जाय; धर्म का तत्त्व अतीव गहन है, अत: महापुरुष जिस मार्ग से गये हैं, उसी पर चलना उचित है ।

तावद्भयेन भेतव्यं यावद्भयमनागतम् ।
आगतं तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्त्तव्यमभीतवत् ।।३२४।।

– भय से तभी तक डरना चाहिए जब तक कि वह सामने न आ जाय; भय के पास आ पहुँचने पर निडर होकर उस पर प्रहार करना चाहिए ।

❖ (क्रमशः) ❖

चार कुण्डलियाँ

(कुछ प्रचलित उक्तियों तथा दोहों पर रचित)

– १ –

भोग न पाये जगत् को, दूर मुक्ति का धाम।
दुविधा में दोऊ गये, माया मिली न राम।।

माया मिली न राम, चित्त में श्रद्धा लाओ।
सुदृढ़ करो वैराग्य, साधना में लग जाओ।।

कह 'विदेह' यह जन्म, देखना व्यर्थ न जाये।
प्रभु को पा लो, विषय निरर्थक भोग न पाये।।

– २ –

बिन माँगे मोती मिले, माँगे मिले न भीख।
माँगो मत, देते रहो, यह सन्तों की सीख।।

यह सन्तों की सीख, कभी मत हाथ पसारो।
अपना तन-मन-धन, परहित निमित्त दे डारो।।

कह 'विदेह' इस विधि चरित्र का फूल खिले।
योग्य बनो तो, बिन माँगे मोती मिले।।

– ३ –

जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ।
जो डूबन से डर गया, रहा किनारे बैठ।।

रहा किनारे बैठ, न कुछ जीवन में पाया।
करते टाल-मटोल, व्यर्थ ही आयु गँवाया।।

कह 'विदेह' निज कमर बाँधकर तत्पर हो जा।
पाये मणि-मुक्ता, जिसने डुबकी ले खोजा।।

– ४ –

सभी सुखों का मूल है कल्पवृक्ष सत्संग।
चित्त-बुद्धि निर्मल करे, सत्वर हो भवभंग।।

सत्वर हो भवभंग, मार्ग यह परमारथ का।
यही सारथी है, साधक के जीवन-रथ का।।

कह 'विदेह' यह नाश करे तीनों दुःखों का।
क्षण भर का सत्संग, मूल है सभी सुखों का।।

मैं भारत वापस लौटा

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

(गतांक से आगे)

अल्मोड़ा, १३ जुलाई १८९७ : धूप में घोड़ा दौड़ाकर आने के कारण आज मेरा शरीर कुछ खराब है। करीब दो हफ्ते शशि बाबू की दवा लेकर भी कोई विशेष लाभ नहीं लग रहा है।... लीवर का दर्द नहीं है और पर्याप्त व्यायाम के फलस्वरूप हाथ-पाँव विशेष मजबूत हो उठे हैं, पर पेट बड़ा फूल रहा है, उठने-बैठने में तकलीफ होती है। सम्भवत: यह दूध पीने से हुआ है; शशि से पूछना कि क्या मैं दूध छोड़ सकता हूँ? पहले मुझे दो बार धूप लग गयी थी। तब से धूप लगने पर आँखें लाल होती हैं और दो-चार दिन शरीर अस्वस्थ हो जाता है।[३१]

अल्मोड़ा, २५ जुलाई १८९७ : मैं खूब घुड़सवारी तथा व्यायाम कर रहा हूँ; परन्तु डॉक्टरों की सलाह से मुझे अधिक मात्रा में बिना मक्खन का दूध पीना पड़ा था, जिसका फल यह हुआ कि मैं पीछे की बजाय आगे की ओर अधिक झुक गया हूँ। वैसे मैं सदा से ही एक अग्रगामी व्यक्ति हूँ, तो भी मैं तत्काल इतना प्रसिद्ध होना नहीं चाहता; और मैंने दूध पीना छोड़ दिया है।... और हाँ, मुझे खुशी है कि मैं शीघ्रता से वृद्धत्व को प्राप्त हो रहा हूँ, मेरे बाल सफेद हो रहे हैं। 'स्वर्ण-सूत्रों के बीच रजत-सूत्र' – मेरा तात्पर्य काले केशों से है – शीघ्रता से चले आ रहे हैं।

क्या तुम ऐसा नहीं सोचती कि एक उपदेशक के लिए युवक होना बुरा है? मैं तो ऐसा ही समझता हूँ, जैसा कि मैंने जीवन भर समझा है। वृद्ध मनुष्य पर लोगों की अधिक आस्था रहती है और वह अधिक पूज्य नजर आता है। तथापि वृद्ध दुर्जन संसार में सबसे बुरे दुर्जन होते हैं। है या नहीं? संसार के पास अपना न्याय-विधान है, जो दुर्भाग्यवश सत्य से बड़ा भिन्न है।... मैं बहुत प्रसन्न हूँ कि वेदान्त एवं योग के द्वारा तुम्हें सहायता मिली है। दुर्भाग्य से कभी-कभी मैं सरकस के उस विचित्र विदूषक के जैसा हो जाता हूँ, जो दूसरों को तो हँसाता रहता हो, पर स्वयं खिन्न रहता हो।

जीवन में हमारी कठिनाई यह है कि हम भविष्य के द्वारा प्रेरित न होकर वर्तमान के द्वारा होते हैं। वर्तमान में जो वस्तु थोड़ा भी सुख देती है, हम उसकी ओर खिंच जाते हैं और फलस्वरूप वर्तमान के थोड़े से सुख के लिए हम भविष्य के लिए बहुत बड़ी विपत्ति मोल ले लेते हैं।

मैं चाहता हूँ कि मुझे कोई भी प्रिय न होता और मैं अपने बचपन से ही अनाथ होता। मेरे जीवन में सर्वाधिक दु:ख के कारण मेरे अपने लोग ही – मेरे भाई-बहन तथा माँ आदि रहे हैं। सगे-सम्बन्धी लोग ही व्यक्ति की प्रगति में भयावह अवरोध की तरह हैं और क्या यह बड़े ही आश्चर्य की बात नहीं है कि इसके बावजूद लोग वैवाहिक बन्धनों के द्वारा नये सम्बन्धियों की खोज करते रहेंगे !!!

जो अकेला है, वही सुखी है। सबका समान रूप से भला करो, पर किसी से प्यार मत करो। यह एक बन्धन है और बन्धन सदा दु:ख की ही सृष्टि करता है। अपने मन में एकाकी जीवन बिताओ – यही सुख है। देख-भाल करने के लिए किसी व्यक्ति का न होना और इस बात की चिन्ता न करना कि मेरी देखभाल कौन करेगा – मुक्त होने का यही मार्ग है। ...

मैं नारी अधिक हूँ, पुरुष कम; तुम पुरुष अधिक हो, नारी कम। मैं सदा बिना किसी प्रयोजन के, दूसरे के दुख को अपने ऊपर ओढ़ता रहा हूँ – किसी को कोई लाभ पहुँचाने में समर्थ हुए बिना – ठीक उन स्त्रियों की तरह जो सन्तान न होने पर अपना सारा स्नेह किसी बिल्ली पर केन्द्रित कर देती हैं !!!

क्या तुम समझती हो कि इसमें कोई आध्यात्मिकता है? बकवास, ये सब भौतिक स्नायविक बन्धन हैं – यह इतना भर ही है। ओह, दैहिक साम्राज्य से कैसे मुक्त हुआ जाय !! ...

स्टर्डी का थर्मामीटर ऐसा लगता है, शून्य के नीचे पहुँच गया है। इस गर्मी में मेरे इंग्लैंड न पहुँचने के कारण वह बहुत ही निराश हो गया लगता है। मैं कर ही क्या सकता था?

हम लोगों ने यहाँ दो मठ आरम्भ कर दिये हैं – एक कलकत्ते में और दूसरा मद्रास में। कलकत्ते का मठ (जो किराये पर लिया हुआ एक जीर्ण मकान है) पिछले भूकम्प के समय भयानक रूप से हिल उठा था। ...

कुछ दिनों बाद मैं नीचे मैदानों की ओर जाऊँगा और वहाँ से उत्तर के पहाड़ों की ओर। जब मैदानों में ठण्डक पड़ने लगेगी, तब मैं सर्वत्र एक व्याख्यान-यात्रा करूँगा और देखूँगा कि क्या किया जा सकता है।[३२]

अल्मोड़ा, २९ जुलाई १८९७ : परसों मैं यहाँ से रवाना हो रहा हूँ – मसूरी या अन्यत्र जहाँ कहीं भी जाना होगा – इस विषय में बाद में निर्णय लिया जायगा।

कल यहाँ पर अंग्रेज लोगों के बीच एक व्याख्यान हुआ था, उससे सब लोग बड़े आनन्दित हुए। परन्तु उसके पिछले दिन हिन्दी में मेरा जो भाषण हुआ, उससे मैं स्वयं बड़ा आनन्दित हूँ – मुझे पहले ऐसी धारणा नहीं थी कि मैं हिन्दी में भी व्याख्यान दे सकूँगा।[३३]

अल्मोड़ा, ३० जुलाई १८९७ : आगामी सोमवार को मैं यहाँ से रवाना हो रहा हूँ। ... यहाँ पर साहबों के बीच एक अंग्रेजी व्याख्यान और भारतीयों के लिए एक भाषण हिन्दी में हुआ था। हिन्दी में मेरा यह प्रथम भाषण था – किन्तु सभी ने बड़ा पसन्द किया। ... आगामी शनिवार को साहब लोगों के लिए अंग्रेजी में एक और भाषण होगा। ...

सोमवार को यहाँ से बरेली रवाना होना है, फिर सहारनपुर और उसके बाद अम्बाला जाना है। वहाँ से कैप्टन सेवियर के साथ सम्भवत: मसूरी जाऊँगा, उसके बाद कुछ सर्दी पड़ने पर वापस लौटने का विचार है और राजपूताना जाना है। तुम पूरी लगन के साथ कार्य करते रहो, डरने की क्या बात है? मैंने भी 'पुन: जुट जाओ' – इस नीति का पालन करना शुरू कर दिया है। शरीर का नाश तो अवश्यम्भावी है, फिर उसे आलस्य में क्यों नष्ट किया जाय? "It is better to wear out than rust out." (जंग लगकर मरने से कहीं घिस-घिसकर मरना अधिक अच्छा है।) मर जाने पर भी प्रत्येक अस्थि से जादू की करामात दिखायी देगी, फिर चिन्ता किस बात की?[३४]

अम्बाला, १९ अगस्त १८९७ : मैं इस समय धर्मशाला के पहाड़ पर जा रहा हूँ। ... मैं पंजाब के पहाड़ों पर और भी कुछ विश्राम लेने के बाद पंजाब में कार्य प्रारम्भ करूँगा। पंजाब तथा राजपुताना वास्तविक कार्यक्षेत्र हैं। ...

बीच में मेरा स्वास्थ्य खूब बिगड़ गया था। अब धीरे-धीरे सुधर रहा है। कुछ दिन पहाड़ पर रहने से ठीक हो जायगा।[३५]

अमृतसर, २ सितम्बर १८९७ : आज मैं अपनी पूरी पार्टी के साथ दो बजेवाली ट्रेन से काश्मीर के लिए रवाना हो रहा हूँ। हाल ही में धर्मशाला पहाड़ियों पर के प्रवास से मेरे स्वास्थ्य में काफी सुधार हुआ है और टांसिल, बुखार आदि बिलकुल गायब हो गये हैं।[३६]

श्रीनगर, १३ सितम्बर १८९७ : अब मैं काश्मीर आ पहुँचा हूँ। इस प्रदेश के बारे में तुमने जो प्रशंसा सुनी होगी, वह सत्य है। ऐसा सुन्दर स्थान कोई दूसरा नहीं है। यहाँ के सभी लोग देखने में गोरे तथा सुन्दर हैं, वैसे आँखें उतनी सुन्दर नहीं होतीं। परन्तु इतने गन्दे गाँव तथा शहर भी मैंने अन्यत्र कहीं नहीं देखे। श्रीनगर में मैंने ऋषिवर बाबू के मकान में आश्रय लिया है। वे खूब आवभगत कर रहे हैं। ... कुछ दिन के भीतर ही मैं भ्रमणार्थ किसी दूसरी जगह जाऊँगा; परन्तु श्रीनगर होते हुए ही लौटूँगा। ...

धर्मशाला पहुँचने के बाद अब तक मेरा स्वास्थ्य ठीक है। मुझे सर्दी अनुकूल लग रही है और शरीर भी ठीक रहता है। काश्मीर में दो-एक स्थान देखने के बाद किसी उत्तम स्थान में चुपचाप बैठने की इच्छा है, अथवा नदियों में भ्रमण करता रहूँगा। डाक्टर जैसी सलाह देंगे, वैसा करूँगा। ...

अक्तूबर में यहाँ से उतरकर पंजाब में दो-चार व्याख्यान देने का विचार है। उसके बाद सिन्ध होते हुए कच्छ, भुज तथा काठियावाड़ – परिस्थितियाँ अनुकूल हुईं तो पूना तक, अन्यथा बड़ोदा होकर राजपूताना और राजपूताना से उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश तथा नेपाल, तदनन्तर कलकत्ता – इस समय यही कार्यक्रम है, आगे प्रभु की जो इच्छा।[३७]

श्रीनगर, १५ सितम्बर १८९७ : आखिरकार हम काश्मीर आ पहुँचे हैं। यहाँ की सारी सुन्दरता की बातें तुम्हें लिखने से क्या लाभ? मैं समझता हूँ कि एकमात्र यही स्थान योगियों के लिए अनुकूल है। किन्तु इस देश के जो वर्तमान निवासी हैं, उनका शारीरिक सौन्दर्य तो अपूर्व है, पर वे हैं नितान्त गन्दे! इस देश के द्रष्टव्य स्थलों को देखने तथा शक्ति प्राप्त करने के लिए मेरा एक माह तक नदियों की सैर करने का विचार है। लेकिन इस समय शहर में भयानक 'मलेरिया' का प्रकोप है – सदानन्द तथा कृष्णलाल को बुखार आ गया है। सदानन्द आज कुछ ठीक है, पर कृष्णलाल को अभी बुखार है। आज डॉक्टर ने उसे जुलाब लेने के लिए कहा है। आशा है कि वह कल तक स्वस्थ हो उठेगा और कल हम यात्रा भी आरम्भ करेंगे। काश्मीर-सरकार ने अपनी एक बड़ी नाव मुझे उपयोग के लिये दी है, जो बड़ी ही सुन्दर और सुखद है। उन्होंने जिले के तहसीलदारों के लिये भी आदेश जारी किया है। यहाँ के लोग दल बाँधकर हमें देखने आ रहे हैं और हमारे सुख-सुविधा के लिए जो भी आवश्यक है, उसकी सारी व्यवस्था की गयी है।[३८]

श्रीनगर, ३० सितम्बर १८९७ : अब मैं काश्मीर देखकर लौट रहा हूँ। दो एक दिन में पंजाब रवाना हो रहा हूँ। आजकल शरीर बहुत कुछ स्वस्थ होने के कारण पहले जैसा पुन: भ्रमण करने का विचार है। भाषण आदि विशेष नहीं देना है – यदि पंजाब में दो-एक व्याख्यानों की व्यवस्था हुई, तो होगी, वरना नहीं। यहाँ के लोगों ने तो अभी तक मार्गव्यय के लिए भी एक पैसा तक नहीं दिया है।... अंग्रेज

शिष्यों के सामने हाथ पसारना भी बड़े लज्जा की बात है। अत: पहले जैसे 'कम्बल लेकर ही' रवाना हो रहा हूँ।[३९]

काश्मीर, (?) सितम्बर १८९७ : काश्मीर वास्तव में ही भूस्वर्ग है – ऐसा देश पृथ्वी में दूसरा नहीं है। यहाँ पर जैसे सुन्दर पहाड़, वैसी ही नदियाँ, वैसी ही वृक्ष-लताएँ, वैसे ही स्त्री-पुरुष और पशु-पक्षी आदि सभी सुन्दर हैं।[४०]

श्रीनगर, १ अक्तूबर १८९७ : मैं तुम्हारे लिये काश्मीर का वर्णन करने की चेष्टा नहीं करूँगा। इतना ही यथेष्ट होगा कि इस 'भूस्वर्ग' के सिवा किसी अन्य स्थान को छोड़ने का मुझे दु:ख नहीं हुआ; मैं यथासाध्य चेष्टा कर रहा हूँ कि यहाँ एक केन्द्र खोलने के लिये राजा को प्रभावित कर सकूँ। यहाँ करने को बहुत कुछ है और कार्यक्षेत्र भी आशाजनक है।[४१]

मरी, ११ अक्तूबर १८९७ : पिछले दस दिनों के दौरान काश्मीर में जो भी कार्य किया गया है, लगता है कि मैंने उसे एक अदम्य आवेश से प्रेरित होकर किया है। चाहे उसका सम्बन्ध शरीर से रहा हो अथवा मन से। अब मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि इस समय मैं अन्य किसी कार्य के योग्य नहीं रह गया हूँ।... 'माँ' का जितना कार्य मुझसे हो सकता था, उतना उन्होंने सम्पन्न करा लिया और अन्ततः मेरे देह-मन को तोड़कर मुझे फेंक दिया है। माँ की जो इच्छा!

अब मैं इन तमाम कार्यों से अवकाश लेना चाहता हूँ। दो-एक दिन के अन्दर सब कुछ... त्यागकर मैं अकेला ही कहीं चल दूँगा और वहीं चुपचाप अपना बाकी जीवन बिता दूँगा। ... मैंने सदा वीर की तरह जीवन बिताया है – मेरा कार्य तड़ित् जैसा क्षिप्र तथा वज्र जैसा अटल होना चाहिए। अन्त तक मैं ऐसे ही बना रहना चाहता हूँ।... मैं कभी लड़ाई में पीछे नहीं हटा हूँ; अब क्या हट जाऊँ?... सभी कार्यों में हार-जीत लगी ही रहती है, पर मेरा विश्वास है कि कायर मरकर निश्चित ही कृमिकीट बनता है। युग-युग तपस्या करने पर भी कायरों का उद्धार नहीं हो सकता – क्या मुझे अन्त में कृमिकीट होकर जन्म लेना पड़ेगा?... मेरी दृष्टि में यह संसार एक खेल के सिवाय और कुछ नहीं है; और चिरकाल तक यह ऐसा ही रहेगा। सांसारिक मान-अपमान, लाभ-हानि को लेकर क्या छह महीने सोचते रहना पड़ेगा? ... मैं काम पसन्द करता हूँ। ... मेरी दृष्टि में यह जीवन इतना अधिक मधुर नहीं है कि इस तरह भयभीत होकर सावधानी के साथ इसकी रक्षा करनी होगी। धन, जीवन, मित्र, सम्बन्धी, मनुष्यों का स्नेह आदि के बारे में यदि कोई पहले से ही पूर्ण रूप से आश्वस्त होकर कार्यक्षेत्र में प्रवेश करना चाहे, या उसके लिये यदि इतना भयभीत होना पड़े, तो उसकी गति वही होती है, जैसा कि श्रीगुरुदेव कहा करते थे कि कौआ अधिक सयाना होता है, परन्तु ... (गू खाता है)। खैर, उसे वही मिलेगा। ...

जब मैं संघर्ष करता हूँ, तो कमर कसकर करता हूँ – इस बात को मैं भलीभाँति समझता हूँ और उसे, उस वीर को, उस देवता को भी मैं मानता हूँ, जो कहता है, "कोई परवाह नहीं, वाह बहादुर, मैं तुम्हारे साथ हूँ!" ऐसे नरदेव के चरणों में मेरे कोटि-कोटि प्रणाम; वे ही जगत्पावन हैं, वे ही जगत् के उद्धारक हैं! और दूसरे लोग, जो केवल यही कहते हैं, "अरे, आगे न बढ़ना, आगे खतरा है" – ऐसे जो मन्दाग्नि के रोगी हैं, वे सदा भय से काँपते रहते हैं। परन्तु जगन्माता की कृपा से मुझमें इतना साहस है कि भयानक मन्दाग्नि से ग्रस्त होकर भी कभी कायर नहीं बन सकता।... मैं शक्तिमाता की सन्तान हूँ। मेरी दृष्टि में मैले-कुचैले फटे वस्त्र के सदृश तमोगुण तथा नरककुण्ड में कोई भेद नहीं है, दोनों ही बराबर हैं। माँ जगदम्बे, हे गुरुदेव! आप सदा यह कहते थे कि – 'यह वीर है!' मुझे कायर बनकर मरना न पड़े। हे भाई, यही मेरी प्रार्थना है! ... "उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा" – श्रीरामकृष्ण के दासानुदासों में से कोई न कोई मुझ जैसा अवश्य निकलेगा और वही मुझे समझेगा।

"हे वीर, स्वप्न को त्याग कर जाग्रत हो जाओ; मृत्यु तुम्हारे सिर पर खड़ी है; ... वह तुम्हें भयभीत न करे" – जो मैंने कभी नहीं किया है, रण में पीठ नहीं दिखायी है, क्या आज ... वही होगा? हारने के भय से क्या मैं युद्धक्षेत्र से पीछे हटूँगा? हार तो अंग का आभूषण है; किन्तु क्या बिना लड़े ही हार मान लूँ? तारा! माँ! ... माँ यदि पुनः ऐसे व्यक्ति प्रदान करें कि जिनके हृदय में साहस, हाथों में शक्ति तथा आँखों में अग्नि हो, जो जगदम्बा की सन्तान हों – यदि वे ऐसा एक भी दें, तो मैं काम करूँगा, पुनः लौटूँगा; अन्यथा मैं समझूँगा कि माँ की इच्छा केवल इतनी ही थी। मैं अब प्रतीक्षा नहीं कर सकता, मैं तूफान की गति से कार्य चाहता हूँ, मुझे निर्भीक-हृदय व्यक्ति चाहिये।[४२]

लाहौर, ११ नवम्बर १८९७ : लाहौर में व्याख्यान ठीक ही हुआ। दो-एक दिनों में देहरादून जा रहा हूँ। तुम लोगों की असम्मति तथा अन्य कई बाधाओं के कारण सिन्ध-यात्रा स्थगित करनी पड़ी।... नियमित व्यायाम के बिना शरीर कभी ठीक नहीं रहता, निरन्तर बातें करने रहने के फलस्वरूप मैं बीमार हो जाता हूँ – यह निश्चित जानना।[४३]

लाहौर, १५ नवम्बर १८९७ : यह बड़े दु:ख की बात है कि इच्छा होने पर भी इस बार सिन्ध जाकर तुम लोगों से मिलना सम्भव न हो सका।... दूसरी बात यह है कि अस्वस्थ हो जाने के कारण मुझे अपने जीवन पर भरोसा नहीं है। मैं अब भी यह चाहता हूँ कि कलकत्ते में एक मठ स्थापित हो, पर उसकी कुछ भी व्यवस्था मैं नहीं कर सका हूँ। साथ ही, इससे पूर्व हमारे मठ को देशवासी जो सहायता देते थे, उन लोगों ने अब वह भी बन्द कर दिया है। उनका ख्याल है कि मैं इंग्लैण्ड से काफी धन लेकर लौटा हूँ!! इतना ही नहीं, इस वर्ष महोत्सव तक होना अति कठिन है, क्योंकि विलायत हो आने के कारण रासमणि के उत्तराधिकारी मुझे बगीचे में नहीं जाने देंगे!! अत: राजपुताना आदि स्थानों

में मेरे दो-चार मित्र हैं, उनसे मिलकर कलकत्ते में अपना एक स्थान निर्माण करने के लिए आप्राण प्रयास करना ही मेरा प्रथम कर्तव्य है। इन सब कारणों से अत्यन्त दु:ख के साथ मुझे अभी सिन्ध-यात्रा स्थगित करनी पड़ी।[४४]

लाहौर, १५ नवम्बर १८९७ : मेरा शरीर ठीक है। रात में दो-एक बार उठना पड़ता है। नींद भी ठीक आती है। अधिक व्याख्यान देने पर भी नींद की कोई हानि नहीं होती, साथ ही व्यायाम भी प्रतिदिन जारी है।[४५]

देहरादून, २४ नवम्बर १८९७ : इस समय टिहरी के बाबू रघुनाथ भट्टाचार्य गले के दर्द से बड़ा कष्ट पा रहे हैं। मैं भी बहुत दिनों से गर्दन के पिछले भाग में दर्द से पीड़ित हूँ। यदि तुम्हें बहुत पुराना घी मिल सके, तो थोड़ा उनको देहरादून भेज देना और थोड़ा मुझको खेतड़ी के पते से भेज देना।[४६]

बेलूड़ मठ, २५ फरवरी १८९८ : कुछ दिनों से मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं था, अब कुछ अच्छा है। इस समय कलकत्ते में अन्यान्य वर्षों की अपेक्षा ठण्ड कुछ अधिक है और इसके फलस्वरूप अमेरिका से मेरे जो मित्र आये हैं, वे बड़े आनन्द में हैं। जो जमीन खरीदी गयी है, आज उसे कब्जे में लिया जायगा। यद्यपि कब्जा मिलते ही वहाँ महोत्सव करना सम्भव नहीं होगा, तो भी रविवार के दिन वहाँ पर कुछ-न-कुछ करने की व्यवस्था मैं अवश्य रखूँगा। कम-से-कम श्रीरामकृष्ण के भस्मावशेष उस दिन अपनी निजी जमीन में ले जाकर वहीं उसकी पूजा की व्यवस्था अवश्य की जायगी। ... इस समय मेरा हाथ खाली है – मेरा जो भी कुछ था, सब कुछ मैंने राखाल को सौंप दिया है। ...

कार्य प्रारम्भ कर दिया है; यदि हरि, सारदा तथा स्वयं मुझको तुम waltz (वाल्स नृत्य) करते देखते तो तुम्हारा हृदय आनन्द से भर जाता। मैं स्वयं ही अत्यन्त विस्मित हो उठता हूँ कि हम कैसे अपने को सँभाल लेते हैं! *(स्वामीजी विनोदपूर्वक उन दिनों की ओर संकेत कर रहे हैं, जब श्रीरामकृष्ण की प्रेरणादायी उपस्थिति में वे तथा उनके गुरुभाई लोग आनन्दपूर्वक कीर्तन गाते हुए नृत्य किया करते थे।)*

शरत् (स्वामी सारदानन्द) आ पहुँचा है और वह अपनी आदत के अनुसार कठिन परिश्रम कर रहा है। अब हम लोगों को कुछ अच्छी चीजें भी प्राप्त हो गयी हैं – तुम स्वयं ही सोच सकते हो कि उस पुराने मठ की चटाई के स्थान पर सुन्दर मेज, कुर्सी और तीन खाटों की प्राप्ति कितनी बड़ी उन्नति है!... कुछ माह बाद ही मैं श्रीमती बुल के साथ पुन: अमेरिका जा रहा हूँ।

यहाँ पर मठ तो स्थापित हुआ। मैं और भी अधिक सहायता पाने के लिए विदेश जा रहा हूँ। ... उत्साहपूर्वक कार्य में लगे रहो। भारत भीतर और बाहर से एक सड़े हुए मुर्दे के समान है। श्री गुरुदेव के आशीर्वाद से हम इसे पुन: जीवित कर देंगे।[४७]

बेलूड़ मठ, २५ फरवरी १८९८ : मेरे एक मित्र, जिनका मैं विशेष ऋणी हूँ, सम्भवत: मुझे दार्जिलिंग ले जाने के लिये यहाँ आये हुए हैं। यहाँ कुछ अमेरिकी मित्र भी हैं और मेरे खाली समय का प्रत्येक क्षण नये मठ तथा उससे जुड़ी संस्थाओं के कार्य में नियोजित हो रहा है। आशा करता हूँ कि मैं अगले माह अमेरिका के लिये रवाना हो जाऊँगा।[४८]

बेलूड़ मठ, मार्च १८९८ : गुडविन से द्रुत-लेखन की कम-से-कम प्रारम्भिक बातें – तुलसी को सीख लेनी चाहिए। जब मैं भारत से बाहर था, तब प्राय: हर डाक में मुझे मद्रास के लिए पत्र लिखना पड़ता था।... उन पत्रों को मेरे पास भेज देना। मैं अपना भ्रमण-वृत्तान्त लिखना चाहता हूँ।... कार्य समाप्त होते ही मैं उन्हें लौटा दूँगा।[४८क]

❖ (क्रमश:) ❖

सन्दर्भ-सूची –

३१. विवेकानन्द साहित्य, प्रथम सं., खण्ड ६, पृ. ३५२; **३२.** वही, खण्ड ६, पृ. ३५७; **३३.** वही, खण्ड ६, पृ. ३६३; **३४.** वही, खण्ड ६, पृ. ३६३-६४; **३५.** वही, खण्ड ६, पृ. ३६५; **३६.** वही, खण्ड ६, पृ. ३६७; **३७.** वही, खण्ड ६, पृ. ३६८; **३८.** वही, खण्ड ६, पृ. ३७०; **३९.** वही, खण्ड ६, पृ. ३७२; **४०.** वही, खण्ड ६, पृ. ३७२; **४१.** वही, खण्ड ६, पृ. ३७७; **४२.** वही, खण्ड ६, पृ. ३८२; **४३.** वही, खण्ड ६, पृ. ३८६; **४४.** वही, खण्ड ६, पृ. ३८७; **४५.** वही, खण्ड ६, पृ. ३८८; **४६.** वही, खण्ड ६, पृ. ३९०; **४७.** वही, खण्ड ६, पृ. ३९४; **४८.** The Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ८, पृ. ४४१-४२; **४८ क.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ६, पृ. ३९८
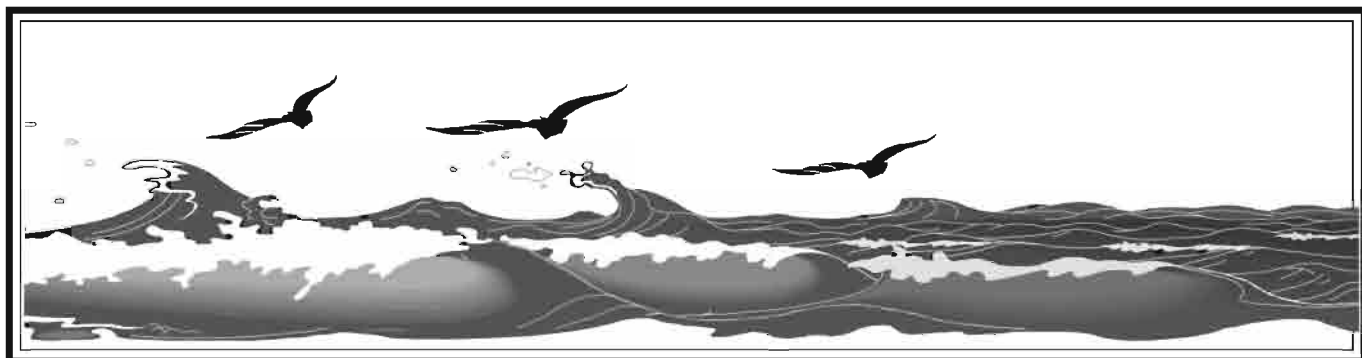
रामराज्य की भूमिका (८/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के प्रांगण में १९८८ ई. में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती के अवसर पर पण्डितजी ने जो प्रवचन दिये थे, उन्हें 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

ज्ञान का अभिप्राय है – सत्य का साक्षात्कार; और व्यक्ति की बुद्धि यदि पैनी है, उसमें सत्य को ग्रहण करने की क्षमता है, तो भले ही पवित्रता न हो, पर ऐसे भी व्यक्ति होते हैं, जो ज्ञान की उच्च-से-उच्च बातों को समझ लेते हैं। गोस्वामीजी ने मोक्ष और मोक्ष-सुख दोनों अलग कर दिया। बोले – ज्ञान से मोक्ष तो प्राप्त हो सकता है, पर मोक्षसुख की अनुभूति के लिये निश्चित रूप से भक्ति का आश्रय लेना आवश्यक है –

तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई।
रहि न सकइ हरि भगति बिहाई ।। ७/११९/६

उत्तरकाण्ड में गोस्वामीजी ने पृथ्वी और जल का दृष्टान्त दिया है। जल को ग्रहण करने के लिए पात्र की जरूरत है। जल टिकेगा, तो थल के आधार पर ही टिकेगा। वे ज्ञान की तुलना जल और भक्ति की तुलना थल से करते हैं –

जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई।
कोटि भाँति कोउ करै उपाई ।। ७/११९/५

ब्रह्माकार वृत्ति ही तो ज्ञान है। ज्ञान की परम्परा में भी 'सोऽहमस्मि' वृत्ति अभ्यास करने की आज्ञा दी गई है।

वेदान्त में दो प्रकार की मान्यताएँ हैं। एक पक्ष मानता है कि केवल विचार से सत्य का ज्ञान कर लेना ही सब कुछ है, अन्य किसी प्रकार के साधन की जीवन में अपेक्षा नहीं है। केवल विचार की अपेक्षा है। दूसरा पक्ष कहता है कि विवेक के पूर्व भी और विवेक के पश्चात् भी व्यक्ति को जीवन्मुक्ति का अभ्यास करना होगा। रामायण में आप क्रम पायेंगे – ज्ञान, विज्ञान, ब्रह्मलीन, विज्ञानी, जीवन्मुक्त। इन बातों के विस्तार में अधिक नहीं जाऊँगा। तो ब्रह्मलीन विज्ञानी सर्वश्रेष्ठ है। उसके पश्चात् फिर अन्त में भक्ति का नाम लिया गया।

ग्यानवंत कोटिक महँ कोऊ।
जीवन मुक्त सकृत जग सोऊ।।
तिन्ह सहस्र महुँ सब सुख खानी।
दुर्लभ ब्रह्मलीन बिग्यानी ।। ७/५४/४-५
सब ते सो दुर्लभ सुरराया।
राम भगति रत गत मदमाया ।। ७/५४/७

भक्ति विज्ञान से भी दुर्लभ है। मान लीजिए किसी ने जान लिया कि मैं ब्रह्म से अभिन्न हूँ, तो यह अनुभूति ही उसके चिन्तन में हर समय बनी रहेगी, तभी तो उसको सुख मिलेगा। जब कभी उसकी वृत्ति ब्रह्माकार की जगह विषयाकार होगी, तब उसे विषयजन्य परिणाम की ही अनुभूति होगी, ब्रह्माकार अनुभूति का सुख नहीं मिलेगा। इसीलिये शंकरजी के सन्दर्भ में जब काम आक्रमण करता है, तो एक विचित्र व्यंग्य किया गया कि काम के आक्रमण के फलस्वरूप जो लोग सर्वत्र ब्रह्म की अनुभूति करते थे, उन्हें सृष्टि नारीमय दिखने लगी –

देखहिं चराचर नारिमय
जे ब्रह्ममय देखत रहे ।। १/८५

दुर्गुण-दुर्विचारों की क्षमता कम नहीं है। यहाँ तक कि जिन लोगों ने यह समझ लिया था कि मैंने काम को पूरी तरह से विनष्ट कर दिया है, उसकी मृत्यु हो चुकी है –

जागइ मनोभव मुएहुँ मन
बन सुभगता न परै कही ।। १/८६

गोस्वामीजी बोले – किसी के भी हृदय में धैर्य नहीं रहा, कामदेव ने सबके मन हर लिए –

धरी न काहूँ धीर सब के मन मनसिज हरे ।। १/८५

तब तो साधना आदि की तो कोई महिमा ही नहीं रही। कोई नहीं बचा ! बोले – कुछ लोग बच गए। – कौन? कहा – उस समय केवल वे लोग ही बचे रहे, जिनकी श्री रघुनाथजी ने रक्षा की – जिन्होंने भक्ति का आश्रय लेकर भगवान से प्रार्थना की – प्रभो, इन दुर्गुणों का प्रवेश मेरे जीवन में न हो, इसका भार मैं आप पर सौंपता हूँ; प्रभु ने उन्हें बचा लिया –

जे राखे रघुबीर ते उबरे तेहि काल महुँ ।। १/८५

अत: ज्ञान कितना भी उत्कृष्ट क्यों न हो, व्यक्ति भले ही उसके द्वारा मुक्ति का अधिकारी बन जाय, पर उसे भक्ति का आश्रय लेना होगा और उसके व्यवहार में भी परिवर्तन दिखना चाहिए, तभी ज्ञान सच्चे अर्थों में पूर्णत: चरितार्थ माना जायगा।

चित्रकूट में भगवान राम पहले और भरतजी बाद में गये। इसका एक अर्थ तो यह हुआ कि बड़े भाई आगे गये और छोटे भाई पीछे। क्योंकि छोटा भाई, बड़े भाई का अनुयायी है, सेवक स्वामी के पीछे चलता है। पर किसी ने श्रीराम से पूछा – आपके बाद श्रीभरत चित्रकूट आए, आपके साथ नहीं आए? प्रभु बोले – जैसे कोई बड़ा व्यक्ति आनेवाला होता है,

तो प्रचार किया जाता है कि वे आ रहे हैं, आप उनका लाभ लीजिए; वैसे ही मैं तो प्रचार करते चल रहा था कि वे पीछे आ रहे हैं, जिनका दर्शन करने से आपके जीवन की समस्याओं का पूरी तौर से समाधान होगा; और वह मैं नहीं, वे भरत हैं।

गोस्वामीजी ने दोनों में अन्तर कर दिया। भगवान राम के दर्शन से क्या हुआ? परम पद के योग्य हो गये –

जे चितए प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे ।।
ते सब भए परम पद जोगू । २/२१६/१-२

तो भरत के दर्शन का क्या फल बचा? भरत के दर्शन से लोगों के जीवन में मनुष्य के मन के रोग दूर हो गये –

भरत दरस मेटा भव रोगू ।। २/२१६/२

भरतजी भगवान राम के विचारों को क्रियान्वित करते हैं और एक क्रान्ति ला देते हैं। स्पृश्य-अस्पृश्य की एक परम्परा इस देश में रही है, जिसे धर्म से जोड़ दिया गया है और उसके पक्ष में तर्क भी दिये गये हैं। भगवान राघवेन्द्र इसको बदलना चाहते हैं। उन्होंने अनुभव किया कि एक परिवर्तन तो दण्ड द्वारा होता है, जो बुरे लोगों के सन्दर्भ में है; परन्तु कुछ अच्छे लोग भी होते हैं, जो किसी संस्कार के कारण स्वयं को परिवर्तित नहीं कर पाते। प्रश्न है कि ऐसी स्थिति में वह परिवर्तन शान्तिपूर्वक कैसे लाया जाय !

भगवान राम इसे निषादराज के सन्दर्भ में भरतजी के द्वारा पूर्ण कराते हैं। गुरु वशिष्ठजी कोई बहुत संकीर्ण धर्मगुरु नहीं हैं। उन्हें महानतम सम्मान प्राप्त है। तो भी सामाजिक मान्यता का संस्कार उनके जीवन में भी है और यह अन्तर इसी बात में दिखाई देता है कि भगवान राम ने निषाद को मित्र बनाकर अपने पास बिठाया, भरतजी ने उनके लिए रथ का परित्याग किया और गुरु वशिष्ठ ने दूर से उन्हें आशीर्वाद दिया। कुछ लोग दुराग्रही होते हैं, परन्तु गुरु वशिष्ठ एक महापुरुष हैं, तपस्वी हैं, उनके हृदय में किसी प्रकार की घृणा या द्वेष नहीं है। वे इस प्रथा को व्यवस्था का एक अंग मानकर स्वीकार किए हुए हैं। पर यहाँ शान्तिपूर्ण ढंग से एक परिवर्तन होता है, जिसमें पुरातन के सम्मान की रक्षा करते हुए भी, पुरातन को परिवर्तित करने की प्रेरणा है।

गुरु वशिष्ठ में वह बदलाव चित्रकूट में जाकर पूरी तौर से साकार हुआ। श्रीराम यह परिवर्तन कैसे लाते हैं? उन्होंने कभी गुरु वशिष्ठ की पूजा बन्द नहीं की, कभी गुरु वशिष्ठ की मान्यताओं का खुलकर विरोध नहीं किया। श्रीभरत ने भी नहीं किया, लेकिन उन्होंने यह अनुभव किया कि गुरु वशिष्ठ स्वयं इतने उदार हैं कि जब विचार करेंगे, तो सहज भाव से स्वीकार कर लेंगे। जब अयोध्यावासी और गुरु वशिष्ठ भी इसे स्वीकार कर लेंगे, तो समाज में भी उसे धर्म के रूप में स्वीकृति मिलेगी। इस पद्धति से श्रीभरत उसे एक नया रूप देते हुए निषाद के लिए रथ से उतर जाते हैं।

सामाजिक मर्यादा कितनी भी उदार क्यों न हो, उसमें कुछ कठोरता होती है। कोई मर्यादा ऐसी नहीं होती, जिसमें उदारता के साथ अनुदारता न हो। कोई ऐसा दृष्टान्त व्यक्ति दे नहीं सकता। परन्तु उस अनुदारता को उदारता में कैसे बदला जाय? समाज में एक व्यवस्था है कि किसको देखकर कौन उठकर खड़ा हो, कौन किसका सम्मान करे, कौन बैठा रहे – स्मृतिग्रन्थ में इसकी एक व्यवस्था दी गयी है। उस सामाजिक मर्यादा की दृष्टि से निषाद एक साधारण व्यक्ति है, वर्ण की दृष्टि से भी नीचे है और वह कोई राजा नहीं है, जबकि भरतजी अयोध्या के मान्य सम्राट् हैं। इसलिए निषाद द्वारा भरतजी को सम्मान देना स्वाभाविक है। और गुरु वशिष्ठ ने जब उसे दूर से आशीर्वाद दिया, तो भरत ने विरोध तो कुछ नहीं किया, पर अपने चरित्र के द्वारा धर्म की व्याख्या उन्होंने नये रूप में कर दी, उसे नया रूप दे दिया। इसी को दृष्टि में रखकर गुरु वशिष्ठ ने भरतजी से कहा – भरत, धर्म तो मेरे जीवन में था, धर्म के रहस्य को तो हम जानते थे, पर तुम्हारा आचरण देखकर, तुम्हारे विचारों को सुनकर मुझे लगा – तुम जो कुछ समझोगे, जो कहोगे, जो करोगे – वह केवल धर्म ही नहीं, अपितु धर्म का सार होगा –

समुझब कहब करब तुम्ह जोई ।
धरम सारु जग होइहि सोई ।। २/३२३/८

यह सूत्र बड़े महत्त्व का है। गुरु वशिष्ठ सामाजिक व्यवस्था से जुड़े हुए धर्म को स्वीकार करते हैं, पर श्रीभरत उसमें नया अर्थ दे देते हैं। स्मृतियों में एक श्लोक है – अपूज्या यत्र पूज्यन्ते – जिस समाज में अपूज्य की पूजा होती है और पूज्य की पूजा नहीं होती है, वह विनष्ट होता है। वह सामाजिक मर्यादा का एक दृष्टिकोण है। यदि यह धर्म के नाम पर इसके पीछे केवल एक व्यवस्था का उद्देश्य हो, तो क्षम्य है; पर उसकी आड़ में व्यक्ति का अभिमान या उसकी हीनता या द्वेषवृत्ति हो, तो वह उसके लिये केवल धर्म का आड़ ले रहा है। वह धर्म नहीं है। तो इसमें भरतजी द्वारा कैसे परिवर्तन हुआ? भरतजी निषाद को देखकर जब रथ से कूद पड़े और निषाद की ओर दौड़े, तब मर्यादा का क्रम बदल गया। छोटे को देखकर बड़े ने रथ का परित्याग कर दिया। प्रजा को देखकर राजा ने रथ का परित्याग कर दिया। यह तो व्यवस्था के अनुकूल नहीं था। परन्तु यह धर्म की व्याख्या ही तो है।

कथा केवल मंच से ही नहीं होती, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कथावाचक बनने की आवश्यकता है। जैसे वक्ता एक ही प्रसंग का विविध सन्दर्भों में भिन्न-भिन्न अर्थ दे देता है और आपको नवीनता की अनुभूति होती है, वैसे ही देश-काल के सन्दर्भ में हम किसी वस्तु को किस रूप में स्वीकार करें, इसकी प्रेरणा भरतजी देते हैं। भरतजी से किसी ने पूछ दिया – गुरु वशिष्ठ ने तो मर्यादा का पालन किया और आपने रथ

का परित्याग कर दिया – यह तो स्मृति धर्म के अनुकूल नहीं हुआ। भरतजी ने यह नहीं कहा कि गुरुजी अनुदार या संकीर्ण हैं, बल्कि बोले – हमारे गुरुजी तो बड़े महान हैं और मैंने जो रथ का परित्याग किया है, वह अपने मन से नहीं, उनकी आज्ञा से किया है। गुरुजी ने निषाद का परिचय देने में ही आज्ञा भी दे दी। परिचय देते हुए उन्होंने केवल इतना ही नहीं कहा कि यह निषाद है, उन्होंने कहा – यह निषाद तुम्हारे राम का मित्र है। गुरुजी स्वयं निषाद का परिचय राम के मित्र के रूप में दिया और मैं श्रीराम का सेवक हूँ। सेवक छोटा है और मित्र बड़ा, इसलिए उनके मित्र को देखकर सेवक ने रथ छोड़ दिया, तो यह धर्म की मर्यादा के अनुकूल ही है।

व्याख्या बदल गई। देखना है कि आप किस दृष्टि से घटना को प्रस्तुत करना चाहते हैं? गुरु वशिष्ठ की यह महानता है कि उन्होंने इसे इस अर्थ में नहीं किया कि भरत ने समृति-धर्म का उल्लंघन किया है। उन्होंने अनुभव किया कि मैं पिछड़ गया और भरत ने इन संस्कारों से ऊपर उठकर धर्म की ऐसी व्याख्या कर दी, जिसमें अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने की चेष्टा नहीं है। एक व्याख्या वह होती है, जिसमें हम स्वयं को श्रेष्ठ दिखाना चाहते हैं – हम इस जाति के या इस कुल के या इस पद के हैं और लोग करते भी हैं। पर इसके द्वारा तो अभिमान की वृत्ति में वृद्धि ही होगी। व्याख्या ऐसी हो, जिससे अभिमान घटे। वर्णधर्म की व्याख्या करते हुए वेदमंत्रों में कहा गया है – उस परम पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से क्षत्रिय, उदर से वैश्य और पैरों से शुद्र उत्पन्न हुए –

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्। बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैस्यः। पद्भ्यां शूद्रो अजायत।।

इसकी एक व्याख्या तो यह हो सकती है कि सिर सबसे ऊपर है, हाथ उससे नीचे है, पेट उससे नीचे है, पैर उससे नीचे है, अत: वर्ण की दृष्टि से सब एक दूसरे से नीचे हैं। पर भक्त की दृष्टि भिन्न होती है। भरतजी से यदि कोई पूछे कि निषादराज तो शूद्र है, उसे देखकर आपने न केवल रथ का परित्याग किया, अपितु उसे हृदय से भी लगा लिया। भरतजी बोले – मैंने वेदमंत्रों के अनुकूल आचरण किया। – कैसे? जब वेदमंत्र मानते हैं कि शूद्र का जन्म चरणों से हुआ और मैं श्रीराम के चरणों के दर्शन के लिये जा रहा था। जो चरणों से पैदा हुआ है, वही हमारे लिए सबसे पहले स्पर्श करने योग्य है। मुझे तो उनके स्पर्श से प्रभु के चरणों की याद आती है।

वाक्य वही है, पर भरतजी उसे एक नई दिशा दे देते हैं। इस पूरी यात्रा में, पूरे मार्ग में भरतजी के द्वारा जिस प्रकार परिवर्तन लाया गया, उनकी परिवर्तन की जो पद्धति है, वही भगवान राम के आदर्श के अनुकूल है। विनम्रतापूर्वक अपने आचरण तथा वाणी के द्वारा परिवर्तन लाने की चेष्टा करना।

इसकी समग्रता कब होती है? समग्रता बुद्धि की भूमि में नहीं आती, मर्यादा की भूमि में कहीं-न-कहीं दूरी बनी रहेगी, पर वह आती है, जब वे चित्रकूट पहुँचते हैं, योग की भाषा में जो चित्त की और भक्तों की भाषा में जो प्रेम की भूमि है। रामराज्य को हम दूसरे शब्दों में प्रेमराज्य भी कह सकते हैं। चित्त की भूमि में जाकर ही एकत्व की अनुभूति होती है। जब हमारे संस्कार निरुद्ध हो जाते हैं, तब हमारे अन्त:करण में शुद्ध भगवत्प्रेम का उदय होता है। उस समय हम, जिन संस्कारों के द्वारा जीवन में संचालित होते हैं, उनसे ऊपर उठ जाते हैं। परिवर्तन वहीं होता है। गुरु वशिष्ठ ने चित्रकूट के चित्तभूमि में, प्रेमराज्य में भरतजी के आचरण को देखा। इस पर उन्हें रोष नहीं हुआ, अपितु सीखने की इच्छा हुई।

इस पूरी यात्रा पर दृष्टि डालें, तो देखेंगे कि गोस्वामीजी बड़े सुन्दर क्रम से यह परिवर्तन दिखा रहे हैं। श्रीराम महर्षि भरद्वाज के आश्रम में गये और उनसे मार्गदर्शक की याचना की, तो उन्होंने चार विद्यार्थी दिये। सांकेतिक भाषा में कहें, तो ये चार विद्यार्थी चार वेदों के प्रतीक हैं। श्रीराम जब पूछते हैं कि मैं किसके पीछे चलूँ, कौन हमारा मार्गदर्शक होगा, तो धर्म शास्त्र के आचार्य महर्षि भरद्वाज ने जब विद्यार्थियों को बुलवाया कि श्रीराम को कौन मार्ग दिखायेगा? तो पचासों विद्यार्थी आ गये – हमारे पीछे आइए, हम ले चलेंगे –

सुनि मन मुदित पचासक आए।। २/१०९/३

पर मुनि ने उनमें से केवल चार ही चुने। विद्यार्थियों को पचास तरह के पन्थ या ग्रन्थ कह लीजिए। विविध प्रकार के आचार्य तथा मान्यता के लोग ही इन विद्यार्थियों के रूप में हैं और वे सभी मार्गदर्शन का दावा करते हैं। चार वेदों का अभिप्राय है कि हमारे धर्म में वेद को ही परम प्रमाण माना जाता है। अत: श्रीराम वेदों के पीछे चलते हैं।

इसे भरतजी परिपूर्णता कैसे देते हैं? भरद्वाज मुनि और श्रीराम के इस वार्तालाप को सुनकर निषादराज को आश्चर्य हुआ। निषादराज जब श्रीराम के साथ चले थे, तो उन्होंने दो बातें कही थीं, एक तो मुझे साथ ले चलिए। – क्यों? बोले – मैं दो कार्य करूँगा। एक तो वन का मार्ग बड़ा कठिन है, आप उसमें भटक जायेंगे। मैं आपको मार्ग दिखाऊँगा और आप जहाँ रहना चाहेंगे, आपके लिए कुटिया बनाऊँगा। फिर जब आप आज्ञा देंगे, तो लौट आऊँगा, या कहेंगे तो आपकी सेवा में रहूँगा। भगवान राम ने निषाद को साथ ले लिया।

नाथ साथ रहि पंथु देखाई।
करि दिन चारि चरन सेवकाई।।
जेहिं बन जाइ रहब रघुराई।
परनकुटी मैं करबि सुहाई।। २/१०४/४-५

पर प्रयाग में निषाद के सामने ही उन्होंने महर्षि भरद्वाज से कहा – महाराज, बताइये हम किस मार्ग से जायँ –

नाथ कहिअ हम केहि मग जाहीं।। २/१०९/१

यह तो बड़ी अटपटी बात हुई । आपके साथ कोई मार्गदर्शक चल रहा हो और सड़क पर आप किसी को रोककर पूछें कि मैं वहाँ जाना चाहता हूँ, मुझे मार्ग बताइए । इसका अर्थ तो यही हुआ न कि आपके साथ जो मार्गदर्शक है, आपको उस पर बिल्कुल विश्वास नहीं है । तो निषादराज जैसा मार्गदर्शक साथ में होते हुए भी प्रभु भारद्वाजजी से मार्ग क्यों पूछते हैं? प्रभु निषादराज को यह बताना चाहते थे कि मर्यादा की दृष्टि से मैं वेद के पीछे चल रहा हूँ, पर इससे तुम यह न समझ लेना कि मुझे तुम्हारे मार्गदर्शन पर कोई सन्देह है । तुम्हें एक ऐसा दिव्य प्रेमी मिलेगा, जो तुम्हें ही अपना मार्गदर्शक बनायेगा और वह सचमुच ही सिद्ध करेगा कि वेद के मार्गदर्शन से भी कहीं अधिक उदात्त मार्गदर्शक सम्भव है ।

श्रीराम ने उन विद्यार्थियों को यमुनातट से लौटा दिया। यह रामायण की सांकेतिक भाषा है, गीता में भी संकेत है कि वेद भले ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हों, परन्तु हे अर्जुन, वे तीन गुणों के दायरे में आते हैं और तुम्हें उनके परे जाना है –

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।। २/४५

श्रीराम ने उन विद्यार्थियों को चित्रकूट तक न ले जाकर यमुनातट से ही लौटा दिया । बड़ी विचित्र बात है ! मार्गदर्शन तो इतने उत्साह से माँगा और बीच मार्ग से लौटा दिया। गोस्वामीजी ने संकेत बड़ा मधुर किया – प्रभु ने यमुना में स्नान करने के बाद ही विद्यार्थियों से कहा – अब मार्ग की कोई समस्या नहीं है, आप लोग कष्ट न करें, लौट जायँ –

बिदा किए बटु बिनय करि फिरे पाइ मन काम ।
उतरि नहाए जमुन जल जो सरीर सम स्याम ।। २/१०९

यमुना कर्म की धारा है –

करम कथा रबिनंदिनि बरनी ।। १/१/९

जब तक कर्म का पथ है, नियम का पथ है, तब तक वेदों की पग-पग पर आवश्यकता है । पर बाद में जब नियम से भी ऊपर उठकर प्रेमराज्य में, चित्त की भूमि में प्रवेश करना है, तब वेद की स्थिति से भी ऊँची स्थिति की अपेक्षा है । ये चारों विद्यार्थी यमुनातट से विदा लेकर लौट जाते हैं।

अब हम भरतजी की यात्रा पर आते हैं। भगवान राम अखण्ड ज्ञान हैं; और भरतजी क्या हैं? – मूर्तिमान प्रेम –

ग्यान अखंड एक सीताबर ।
माया बस्य जीव सचराचर ।। ७/७८/४
भरतहि कहहिं सराहि सराही ।
राम प्रेम मूरति तनु आही ।। २/१८३/४

तो भरतजी ने क्या किया? उन्होंने किसको मार्गदर्शक बनाया? भरतजी के मार्गदर्शक भरद्वाज के आश्रम के विद्यार्थी – वेद नहीं हैं । एक ऐसी स्थिति आती है कि जब दिव्य प्रेम का उदय होता है और तब किसी नियम या मार्ग की अपेक्षा नहीं होती । प्रेमी जिस दिशा में चलता है, वही सन्मार्ग होता है, यही प्रेम की विलक्षणता है । दोनों यात्राओं को जोड़कर ही हम रामराज्य की समग्रता को समझ सकते हैं ।

इसके बाद साधना के रूप में भरतजी की यात्रा शुरू होती है । यह यात्रा किस लिये है? सबके हृदय में एक ज्वाला जल रही है और उस ज्वाला का शमन तब तक नहीं होगा, जब तक हम ईश्वर से मिलकर एकाकार नहीं होंगे –

आपनि दारुन दीनता कहउँ सबहि सिरु नाइ ।
देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ ।। २/१८२

साधना का पथ, इसी ज्वाला से बचने का प्रयास है । निर्गुण निराकारवादी सन्त पल्टूदासजी हुए हैं । उन्होंने कल्पना की कि चारों ओर आग लगी हुई है । पूछा गया – कौन-कौन जल रहा है? तो उन्होंने कोई नाम छोड़ा ही नहीं –

चिन्ता की आग लगी है, जरै सकल संसार ।।
जरै सकल संसार, जरत नृपती को देखा ।
बादशाह उमराव, जरत है सैयद शेखा ।।
सुर नर मुनि सब जरै, जती जोगी संन्यासी ।
पंडित ज्ञानी चतुर, जरै कनफटा उदासी ।।
जंगम सोरा जरै, जरै नागा बैरागी ।
कौन बच के भागि, दुपहरै लागी आगी ।।

बड़े आतंक की बात है, सबको गिना डाला । – कोई बचता है या नहीं? तो अन्त में यह कहकर समाप्त किया – वही इस ज्वाला से बच सकता है, जिसने भगवान के नाम में अपने को अर्पित कर दिया है, विलीन कर दिया है –

पलटू बचतै संत जिन, लिया नाम आधार ।
चिन्ता की लगि आग है, जरै सकल संसार ।।

भरतजी भी कहते हैं कि एक आग लगी हुई है, जो बाहर नहीं, भीतर है और वह तब मिटेगी, जब हम प्रभु के चरणों का दर्शन करेंगे । गुरु वशिष्ठ के आदेश पर भरतजी ने राज्य स्वीकार नहीं किया, तो सबको आश्चर्य हुआ कि इन्होंने गुरु की आज्ञा का उल्लंघन कर दिया । भरतजी ने कहा – मैं यह जानता हूँ कि गुरुदेव जब यह कहते हैं कि 'भरत, राज्य स्वीकार कर लो', तो वे ऐसी आज्ञा दे सकते हैं? कौशल्या माता भी यह कह सकती हैं? अयोध्या के मंत्री भी ऐसा कह सकते हैं । और मैं भी गुरु, पिता, माता की आज्ञा ही मानना चाहता हूँ। पर मैं चाहता हूँ कि वह गुरु, पिता, माता की आज्ञा हो । इसके बाद उन्होंने बड़ी विनम्रतापूर्वक जो शब्द कहा, वह बड़ा सांकेतिक है । बोले – मैं समझ गया, आप लोगों के मुँह से कोई और बोल रहा है । मानस रोगों के सन्दर्भ में 'मोह' शब्द आता है, यहाँ भी भरतजी ने कहा –

तुम्ह चाहत सुखु मोहबस
मोहि से अधम कें राज ।। २/१७८

क्या गुरुदेव ऐसा कहेंगे कि मेरे राज्य स्वीकार कर लेने

से समस्या का समाधान हो जायगा? मेरे गुरुदेव जब अपनी स्थिति में होते हैं, तब तो उनकी वाणी भिन्न होती है। उन्होंने ही तो पिताजी से कहा था – दशरथ, तुम्हारा पुत्र वह ईश्वर है, जिसके भजन के बिना जीव के हृदय की ज्वाला कभी शान्त नहीं हो सकती –

सुनु नृप जासु बिमुख पछिताहीं।
जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं ।। २/४/७

भरतजी बोले, वह गुरु वशिष्ठ की वाणी है और जब वे कहते हैं कि राज्य ले लो, तो यह शराब की चिकित्सा? –

ग्रह ग्रहीत पुनि बात बस तेहि पुनि बीछी मार।
तेहि पिआइअ बारुनी कहहु काह उपचार ।। २/१८०

यह हमारे गुरुजी की वाणी नहीं है। कहीं-न-कहीं कोई ऐसी स्थिति आ गई है कि हमारे गुरुदेव ऐसा कहने को बाध्य हैं। माता ऐसा कहने को बाध्य हैं। अभिप्राय यह कि अयोध्या में भी मोह है और बड़े-से-बड़े व्यक्ति के जीवन में भी मोह है, परन्तु भरतजी की विशेषता यह है कि वे कभी भी विनम्रता का परित्याग नहीं करते। उनकी बोलने की यह कला है कि वे जब कुछ बोलते हैं, तो उसे शीरे में, रस में डुबो देते हैं –

भरतु कमल कर जोरि धीर धुरंधर धीर धरि।
बचन अमिअँ जनु बोरि देत उचित उत्तर सबहि। २/१७६

वाक्य वही है, पर लक्ष्मणजी और भरतजी की भाषण पर यदि दृष्टि डालें। जैसे शुद्ध घी में बनी हुई जलेबी हो और आपके सामने परोस दिया जाय, तो आपको उससे स्वाद की अनुभूति नहीं होगी। पर उसे घी में तलने के बाद जब शीरे में डुबाकर रसमय बना दिया जाता है, तो आप उसका कितने स्वाद से आनन्द लेते हैं। सो लक्ष्मणजी की वाणी तो सत्य के शुद्ध घी में पकी हुई है, पर उसमें कहीं पर भी मिठास नहीं है और भरतजी की वाणी सत्ययुक्त होते हुए भी शील के शीरे में डुबो दी गई है। यह शील ही उनका स्वभाव है। उन्होंने न गुरुजी की बात स्वीकार की और न माँ की; लेकिन इतना आदर कि उन्होंने कहा कि आप तो ज्ञान के समुद्र हैं –

गुर बिबेक सागर जगु जाना।
जिन्हहि बिस्व कर बदर समाना ।। २/१८२/१

हमारे गुरुदेव इतने महान् है कि ऐसा कभी हो नहीं सकता कि वे ऐसी ओछी बात कहें। उन्होंने विनम्रता के साथ कहा – गुरुदेव हम तो आपकी ही आज्ञा जीवन में चरितार्थ करना चाहते हैं। गुरु जिस समय गुरुत्व में स्थित होकर आदेश दें, तो वह पालनीय है, पर वे यदि किसी अन्य मन:स्थिति में हों, तो उनके प्रति आदर कितना भी रहे, पर उनकी वाणी प्रामाणिक नहीं है। तो भरतजी जलन की समस्या का समाधान पाने के लिए चित्रकूट जा रहे हैं। हमारे मन में, बुद्धि में और जीवन में जो जलन की समस्या है, उसके लिये हमें चित्रकूट जाना होगा। चित्रकूट जाने के लिए जो साधन पथ है, उसमें निषादराज का गाँव शृंगवेरपुर मिला। भरतजी की जलन यहीं से शान्त होनी शुरू हो गयी। उन्होंने कहा – मित्र निषादराज, आप चलकर वह स्थान दिखाइए, जहाँ प्रभु ने विश्राम किया था। उस स्थान के दर्शन से क्या होगा? भरतजी कहते हैं – भले ही हमारी जलन पूरी तौर से तो चित्रकूट पहुँचकर ही शान्त हो, पर जहाँ प्रभु ने विश्राम किया है, उस स्थान का जब हम दर्शन करेंगे, तो मेरे हृदय की जलन शान्त होगी –

पूँछत सखहि सो ठाउँ देखाऊ।
नेकु नयन मन जरनि जुड़ाऊ ।। २/१९८/६

निषादराज प्रभु के मित्र हैं और उनके मन से दोष दुख और दरिद्रता की दावाग्नि मिट चुकी है –

मिटे दोष दुख दारिद दावा ।। २/१०१/५

भरतजी कहते हैं कि आपकी वह दावाग्नि मिट चुकी है, अब मुझे वह स्थान दिखाइए। निषादराज श्रीभरत जी को लेकर जाते हैं। वह एक अनोखा प्रसंग है। वहाँ दो चीजें हैं – भगवान राम के चरणों के चिह्न और सीताजी के आभूषणों के कुछ टुकड़े। एक ओर मिट्टी और दूसरी ओर सोना। भगवान के चरणचिह्न हैं धूल में और सीताजी के आभूषण के टुकड़े सोने के हैं। हमारे सामने एक ओर धूल पड़ी हो और दूसरी ओर सोना पड़ा हो, तो सोने को उठाकर जेब में रख लेने में जरा भी विलम्ब नहीं होगा। धूल को कौन छूता है! लेकिन श्रीभरत की दृष्टि क्या है? गोस्वामीजी ने लिखा – श्रीभरत ने उस धूल को आँखों में लगा लिया –

चरन देख रज आँखिन्ह लाई।
बनइ न कहत प्रीति अधिकाई ।। २/१९९/२
हरषहिं निरखि राम पद अंका।
मानहुँ पारसु पायउ रंका ।। २/२३८/३

इसके बाद उन्होंने सोने के टुकड़े को देखा –

कनक बिंदु दुइ चारिक देखे।
राखे सीस सीय सम लेखे ।। २/१९९/३

धूल के कण में श्रीराम का साक्षात्कार हो रहा है, सोने के टुकड़े में श्री सीताजी का; और भरतजी एक को नेत्र में तथा दूसरे को मस्तक पर धारण करते हैं। भरतजी की दृष्टि बहिरंग रूप पर नहीं है, धूल और सोना भगवान से जुड़कर उनके लिए भगवान का ही रूप है। भरतजी ने निषादराज से कहा – आपने इस स्थान पर भगवान की शैय्या का दर्शन कराया, अब आप ही कृपा करके मेरे मार्गदर्शक बनें। भगवान राम ने चारों को चार विद्यार्थियों को मार्गदर्शक बनाया था और भरतजी ने निषादराज को मार्गदर्शक बनाया और दोनों हाथ पकड़कर आगे बढ़ रहे हैं। पर ये निषादराज यमुनातट से लौटाए नहीं गये। भरतजी ने इन्हें चित्रकूट तक मार्गदर्शक बनाया। इस चित्रकूट-यात्रा में, जिन निषादराज का अहंकार

पूरी तौर से समाप्त हो चुका है, जो प्रभु से जुड़कर पूरी तौर से समर्पित हो चुके हैं। गोस्वामीजी कहते हैं – लगता है कि विनम्रता और अनुराग मानो शरीर धारण करके जा रहे हों –

जनु तनु धरें बिनय अनुरागू ।। २/१९७/२

और तब? कैसा दृश्य है?

तब केवट ऊँचें चढ़ि धाई ।
कहेउ भरत सन भुजा उठाई ।।
नाथ देखिअहिं बिटप बिसाला ।
पाकरि जंबु रसाल तमाला ।। ...
ए तरु सरित समीप गोसाँई ।
रघुबर परनकुटी जहँ छाई ।। २/२३७/१-६

इतना विलक्षण वर्णन है। निषादराज के मार्गदर्शन में भरतजी भगवान राम का दर्शन करते हैं। मानो कितनी विनम्रता भरतजी के आचरण में है कि जिसे समाज छूने से डरता है, उसको भरतजी ईश्वर से मिलानेवाला मार्गदर्शक मानते हैं।

पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें ।
सब मानिअहिं राम के नातें ।। २/७४/७

पूजनीय और प्रिय की एकमात्र कसौटी यह है कि उसे राम के नाते से ही स्वीकार किया जाना चाहिए, अन्य किसी आधार पर नहीं। भरतजी ने इसी सूत्र को स्वीकार किया है, तभी तो निषादराज को मार्गदर्शक बनाया। और चित्रकूट में जब उनका प्रभु से मिलन होता है, तब पूर्ण ब्रह्मैक्यता, जीव-ब्रह्म का मिलन है। उस पूर्णता की अनुभूति में भरतजी और श्रीराम बिल्कुल डूबे हुए हैं। वस्तुत: समाधि का सुख इतना दिव्य सुख है कि उसे पाने के बाद कोई भान नहीं रह जाता –

जनु जोगीं परमारथु पावा ।। २/२३९/३

यदि भरतजी जैसे महान् सन्त या अन्य महान् सन्त भी ब्रह्म से मिलन के दिव्य रस में डूब जायँ, तो असंख्य लोग इससे वंचित रह जायेंगे। अयोध्या के नागरिक प्रतीक्षा कर रहे हैं और उनमें गुरु वशिष्ठ भी हैं। बड़ी अनोखी यात्रा है, जिस यात्रा में सवारीवाले पिछड़ गये और पैदल चलनेवाले भरतजी पहले पहुँच गये। साधना पथ की विचित्र यात्रा है। इस यात्रा में गुरु प्रतीक्षा में है कि श्रीराम कब मिलेंगे और शिष्य भगवान को पाकर के धन्य हो रहा है, परिपूर्णता की स्थिति में है। रामराज्य का अनुभव भी भरत को हो गया। उन्होंने तो प्रवेश कर लिया, पर वह रामराज्य सारे संसार में किसकी कृपा से फैला? जब सब डूब रहे हों, तो कोई चतुर केवट कई डूबनेवालों को बचाता है। केवट ने अनुभव किया – अरे, ये दोनों तो ऐसे डूबे कि लोग कहाँ हैं, इसकी कौन चिन्ता करे? वह आनन्द ही ऐसा है –

मन मगन भया तो क्यों बोलै ।
हंसा पाया मानसरोवर ताल तलैया क्यों डोलै ।।

कोउ किछु कहई न कोउ किछु पूँछा ।
प्रेम भरा मन निज गति छूँछा ।। २/२४२/७

अन्त में सबको – विशिष्ट से लेकर सामान्य अयोध्यावासियों तक के लिये भगवान को सुलभ कराने का श्रेय किसको मिला? जिसको भरतजी ने मार्गदर्शक बनाया था। केवट ने भगवान से कहा – महाराज, गुरुदेव, मंत्री, सेनापति, माताएँ, सब आए हुए हैं, आपके लिये व्याकुल हैं। ईश्वर से कौन नहीं मिलना चाहता? सब आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं –

नाथ साथ मुनिनाथ के मातु सकल पुर लोग ।
सेवक सेनप सचिव सब आए बिकल बियोग ।।२/२४२

यह जो बाहर निकलकर उस आनन्द के वितरण की प्रक्रिया है, वह यहाँ पर स्पष्ट होती है। श्रीराम तुरन्त बाहर आए, प्रेमसिन्धु अब शीलसिन्धु होकर सामने आ गये –

सीलसिंधु सुनि गुर आगवनू ।
सिय समीप राखे रिपुदवनू ।।
चले सबेग रामु तेहि काला ।
धीर धरम धुर दीनदयाला ।। २/२४३/१-२

गुरु वशिष्ठ को दूर से देखा और दण्डवत प्रणाम किया।

गुरहि देखि सानुज अनुरागे ।
दंड प्रनाम करन प्रभु लागे ।। २/२४३/३-४

यह है श्रीराम की गुरुभक्ति, इतना आदर ! पर गुरु वशिष्ठ ने उसे दूसरे ही अर्थों में देखा। उनको लगा कि मैंने निषाद को दूर से ही आशीर्वाद दिया था, कहीं इसीलिये तो राम मुझे दूर से प्रणाम नहीं कर रहे हैं? उनके अन्त:करण में एक नए भाव का उदय हुआ। जब केवट ने फिर प्रणाम किया, तब गुरु वशिष्ठ अवसर नहीं चूकते – उनके मन में दूर रहने का जो एक संस्कार था, इस दिव्य मिलन की भूमि में, प्रेम की भूमि में वे केवट को उठाकर हृदय से लगा लेते हैं –

राम सखा रिषि बरबस भेंटा ।। २/२४३/६

श्रीराम और भरतजी का मिलन हुआ, तो देवताओं ने फूल नहीं बरसाये। तब किसी को होश ही नहीं था। पर जब होश में आए, सचेत हुए, तो गोस्वामीजी ने कहा –

नभ सराहि सुर बरिसहिं फूला ।।
एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं ।
बड़ बसिष्ठ सम को जग माहीं ।। २/२४३/७-८

गुरु वशिष्ठ और निषाद का यह मिलन, दिखाता है कि अयोध्या और कैकेयीजी के हृदय में रोग के रूप में जो दोष है, मोह है, अहंता है, ममता है; भरतजी अपने चरित्र द्वारा उसे दूर करके परिवर्तन की प्रक्रिया सम्पन्न करते हैं। इसकी समग्रता तब होती है, जब उस दिव्य मिलन की भूमि में कोई भी व्यक्ति अलग नहीं रहा, सब मिलकर एकाकार हो गये।

❖ (क्रमशः) ❖

सारगाछी की स्मृतियाँ (१२)

स्वामी सुहितानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव हैं । महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे । उन्होंने समय-समय पर महाराज जी के साथ हुये वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं । 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है । पूज्य महासचिव महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और ब्रह्मचारी बोधमय चैतन्य ने किया है, जिसे विवेक ज्योति के पृष्ठों में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है । – संपादक)

१२-७-१९५९

महाराज – जब भगवान श्रीकृष्ण की आयु ग्यारह वर्ष की थी, तब वे वृन्दावन छोड़कर मथुरा चले गये। बहुत लोग उनकी वृन्दावन-लीला की गलत व्याख्या करते हैं। बंकिमचन्द्र के द्वारा लिखित 'कृष्ण चरित्र' को पढ़कर देखो भगवान श्रीकृष्ण क्या थे।

भगवान श्रीकृष्ण केवल गोपियों का वस्त्र-हरण किये थे और मक्खन चुराकर खाये थे, ऐसी बात नहीं है, वे प्रतिदिन एक-न-एक वीरता का कार्य किये बिना वापस नहीं आते थे।

इच्छा थी, कि यदि कोई भगवान श्रीकृष्ण की एक जीवनी लिख सकता।

हमलोगों का तो अधिकांश शान्त और दास्य भाव है। सख्य भाव भी अच्छा है। किन्तु हमलोगों के लिये मधुरभाव ठीक नहीं है। दास्य भाव अथवा सन्तान भाव अच्छा है – मैं तुम्हारा अंश हूँ, मैं तुम्हारी सन्तान हूँ एवं मैं तुम्हारा दास हूँ।

रामकृष्ण सत्य और रामकृष्ण मिशन मिथ्या है। मैंने यह बात एक लड़के को कहा था, किन्तु वह तो विश्वास ही नहीं किया। वह कर्म करने में उन्मत्त हो गया था। बाद में हिसाब में गड़बड़ होने के कारण उसका नाम काट कर संघ से बाहर कर देने की स्थिति आ गयी थी। जो भी हो, वह लड़का अच्छा था, इसलिए संघ में टिक गया। तब उसने कहा कि अब समझ में आ रहा है कि आपकी बात ही सत्य है। रामकृष्ण सत्य हैं अर्थात् वे ईश्वर की दृष्टि से सत्य हैं। रामकृष्ण मिशन अथवा संघ मिथ्या है अर्थात यह सब सापेक्ष (Relative) है, यह सब आयेगा-जायेगा।

महाराज जी के पास बैठकर पातञ्जल योगसूत्र से योगी के लक्षण का अध्ययन चल रहा था।

महाराज – यदि वर्ण-प्रसाद देखना चाहते हो, तो स्वामी विशुद्धानन्द जी महाराज को देखो। शरीर का रंग चम-चम चमक रहा है। एक दिन दवा खाने के लिए उन्होंने मुँह खोला था, तो मैंने भीतर देखा कि एकदम लाल ! यह अभी भी मुझे याद है ! देखा नहीं उनके दोनों कान लम्बे हैं। यह योगी का लक्षण है।

१४.०७.१९५९

सेवक – आप कहते हैं कि ऐसा कर्म करना चाहिये, जो ईष्ट चिन्तन के अनुकूल हो, उसमें सहायक हो। किन्तु यदि ईष्ट-बोध से जीव की सेवा सम्भव न हो तो?

महाराज – ठीक कहते हो, किन्तु देखा जाता है कि जो लोग पहले-पहल बहुत कर्म करते हैं, बाद में वे लोग ध्यान करने के लिये एक व्यग्रता का बोध करते हैं। इसलिये बीच-बीच में कर्म से मुक्ति लेकर अपना आत्मनिरीक्षण करना चाहिये। उससे अच्छी उन्नति होती है। उसके बाद पुन: कर्म में लग जाना चाहिये। किन्तु ध्यान के सामयिक आवेश में आकर कर्म करना एकदम छोड़ देने से, पहले-पहल तो अच्छा चलता है, किन्तु कुछ दिन बाद ध्यान के प्रति लगाव कम हो जाता है। तब वह थोड़ा ध्यान करता है और बाकि समय गप-शप करने में समय बिताता है।

मैं सोचा था कि तपस्या में जाकर बहुत ध्यान करूँगा। किन्तु कहाँ ! मुझे वापस आना पड़ा। इसके सिवाय हम लोगों का शरीर इसे सहन भी नहीं कर पाता।

प्राय: देखा गया है कि जो लोग कर्म करते हैं एवं थोड़ा ध्यान एवं स्वाध्याय ठीक से करते हैं, वे लोग मृत्यु के समय मुक्त होकर ही रहते हैं। सारे दिन कार्य के दौरान रामकृष्ण नाम सुनते-सुनते एक धारणा हो जाती है। किन्तु यह ध्यान रखना होगा कि कार्य करने में ही मत्त हो न जायँ, केवल कार्य में ही उन्मत्त होने पर सर्वनाश निश्चित है।

सेवक – "निस्त्रैगुण्ये पथिविचरतां को विधि: को निषेध:" – गुणातीत व्यक्ति के लिये कोई विधि-निषेध नहीं रहता है, इसका क्या अर्थ है? क्या वह जो चाहे, वही कर सकता है?

महाराज – नहीं, वह ऐसे चलेगा, जिससे उसका पैर बेताल में नहीं पड़ेगा। अर्थात् वह नियम का अतिक्रमण कर नियम के परे चला जाता है।

देखो, जो लोग अविवाहित हैं उन लोगों को कितनी परेशानी है। वे दिनभर दूसरों के झमेले में ही पड़कर समय बिताते हैं।

सेवक – हम लोगों को ही देखिये न ! कितने झमेलों, कितनी समस्याओं में पड़े रहते हैं ! यह केवल रजोगुण का ही कार्य है !

महाराज – नहीं, हम लोगों की शक्ति का सदुपयोग करने के लिये स्वामीजी ने एक मार्ग बना दिया है। उस मार्ग से

चलने से दूसरों का उपकार होता है। उसके साथ-साथ हम लोगों की भी उन्नति होती है।

१७-०७-१९५९

महाराज –

आज फाल्गुन की हवा से
सूखे वृक्षों में आयी मंजरी !
पद-तल-मर्दित लता में भी
फूल खिले मरूभूमि री !!

तुम लोगों ने यह गाना सुना है क्या?

सेवक – १९१७ ई. में रूस-क्रान्ति के बाद लिखा गया था क्या ?

महाराज – देख रहे हो न, हम लोगों के संघ में मुसलमान, खासिया, निम्न वर्ण और एवं नाई सभी साधु हो रहे हैं, सभी सम्मान, प्रणाम प्राप्त कर रहे हैं। साम्यवाद (Communism) एवं समाजवाद (Socialism) का नाम सुना जा रहा है। स्वामीजी ने कहा था कि नयी क्रान्ति रूस या चीन से होगी।

२२-०७-१९५९

महाराज – तुम लोग योगाभ्यास करना।

सेवक – क्या योगाभ्यास प्राणायाम है?

महाराज – नहीं, इस देह, मन एवं बुद्धि के बन्धन से मुक्त होना – स्वयं को मुक्त करना, यह योगाभ्यास प्राणायाम है। महाराज – नहीं ! इस देह, मन एवं बुद्धि के बन्धन से मुक्त होना, स्वयं को मुक्त करना योगाभ्यास है।

सेवक – वही तो लक्ष्य है, किन्तु जब तक मुक्ति नहीं हो रही है, तब तक तो कष्ट भोगना ही होगा।

महाराज – उस मुक्ति के लिये ही तो शीघ्रता करने के लिये कह रहा हूँ। देखो, मेरे शरीर को कष्ट हो रहा है, मन शरीर की ओर है, केवल बुद्धि ही ठीक है। इस जगत में सबसे सुन्दर माँ का स्नेह-प्रेम है। यह दुर्लभ चीज है। मातृ-भक्ति की अभिव्यक्ति भगवान शंकराचार्य, श्रीचैतन्यदेव एवं श्रीरामकृष्ण में देखी जाती है। जब तक अपने शरीर का बोध है, तब तक माता पिता के प्रेम में विश्वास करना होगा। पर यदि तुम संन्यासी हो, तो इसे भी याद रखना होगा कि माता-पिता के प्रति कर्तव्य का पालन कैसे और कितना करोगे।

ज्ञान, भक्ति और कर्म इत्यादि के प्रसंग में महाराज ने कहा – "महाप्रभु चैतन्यदेव ने कहा जीवों पर दया और ठाकुर श्रीरामकृष्णदेव ने कहा – शिवज्ञान से सेवा। शिव-ज्ञान से सेवा करने के लिये ज्ञान-विचार की आवश्यकता पड़ती है। उनकी सेवा करने से ही भक्ति, योग और साथ-साथ कर्म भी हो रहा है।"

सेवक – किन्तु आन्तरिकता या लक्ष्य ठीक नहीं रहने से, क्या इसका कोई मूल्य है?

महाराज – केवल तत्त्वत: मैं जानता हूँ कि ये सब नारायण हैं, केवल इस प्रकार जानने से ही नहीं होगा। वास्तविक रूप से समाज में उसका व्यवहार करके दिखाना होगा। हम लोगों का आधार बिल्कुल ही खराब नहीं है। हम लोग एक साथ कार्य करेंगे, एक साथ उठेंगे, चलेंगे। मेरा दोष तुम दिखा दोगे और तुम्हारा दोष मैं दिखा दूँगा। इसीलिये तो स्वामीजी ने सबको लेकर यह संघ बनाया। कार्य न करके केवल बैठे रहने से तुम्हारी बुद्धि जड़ हो जायेगी। किन्तु ध्यान और स्वाध्याय ठीक रख कर कार्य करना। हाँ, लेकिन अचानक कोई अत्यावश्यक कार्य आ जाने से उसे पूरा समय देकर कर सकते हो। खाद्य-अखाद्य में रुचि सत्त्व, रज, एवं तम गुणों पर निर्भर करता है। सत्त्वगुणी शुद्ध ताजा, सहज सुपाच्य भोजन चाहते हैं, रजोगुणी बहुत गरम एवं तीखा पसन्द करते हैं और तमोगुणी बासी, सड़ा दुर्गन्ध पदार्थ खाते हैं।

२-८-१९५९

ब्रह्मचारी – महाराज, क्या ठाकुर चम्पा फूल को पसन्द करते हैं ?

महाराज – मैं क्या जानूँ ! मैं तो जानता हूँ कि उनको कोई चीज पसन्द अथवा अपसन्द नहीं थी, वे भी तो मनुष्य शरीर में ही आये थे। एक व्यक्ति केवल जलेबी ही लाता था। मैंने पूछा – क्या उन्हें दूसरी मिठाई अच्छी नहीं लगती थी?

१२-७-१९५९

महाराज – देखो, जो कुछ भी क्यों न करो, असली उद्देश्य है इस देह, मन और बुद्धि से बाहर निकल जाना। यही धर्म का तात्पर्य है। इसके अतिरिक्त और सब गुड़िया का खेल है। किन्तु यदि इससे बाहर निकलना है, तो महामाया की कृपा के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है। व्याकुल होकर प्रार्थना करो, जिससे वे इस देह, मन एवं बुद्धि के बन्धन को तोड़ दें। विचार करना कि जिसे मैं अपने सामने देख रहा हूँ, उसने इस घर में जन्म नहीं लिया है।

जैसे एक के बाद एक स्कूल-कॉलेज को बदलते जाते हैं और अन्त में कोई भी स्कूल-कॉलेज नहीं रहता है। अत: तुम देख रहे हो कि तुम बहुत से दृश्यों के द्रष्टा मात्र हो। तुम्हारे मन में शक्ति है, बुद्धि है तथा हृदय है। तुम लोगों में संसारी बुद्धि बिल्कुल ही नहीं है। तुम लोग कोशिश करने से इसी जीवन में जीवन्मुक्त हो सकते हो। ❖ **(क्रमशः)** ❖

विषय-भोगों की असारता

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ संन्यासी जपानन्दजी के कुछ संस्मरणों तथा चार पुस्तकों 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी', 'आत्माराम की आत्मकथा' तथा 'काठियावाड़ की कथाएँ' का हम धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं । प्रथम तीन का नागपुर मठ से ग्रन्थाकार प्रकाशन भी हो चुका है । १९३७ ई. में उन्होंने महाभारत की कुछ कथाओं का बँगला में पुनर्लेखन किया था । जिसकी पाण्डुलिपि हमें श्री ध्रुव राय से प्राप्त हुई है । फरवरी के अंक तक हम ६ कथाओं के अनुवाद प्रस्तुत कर चुके हैं । प्रस्तुत है उसी शृंखला की अगली कड़ी – सं.)

सम्राट ययाति राजा नहूष के द्वितीय पुत्र थे । उनकी दो रानियाँ थीं । ब्राह्मण शुक्राचार्य की कन्या देवयानी और दैत्याधिपति वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा । देवयानी और शर्मिष्ठा किस प्रकार ययाति की रानियाँ हुईं – यह संक्षेप में बताने के बाद हम ययाति के अनुभव पर चर्चा करेंगे ।

असुरों के गुरु शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी और असुरों के राजा वृषपर्वा की कन्या शर्मिष्ठा एक ही आयु की थीं और दोनों के बीच बड़ा प्रीतिभाव था । दोनों सखियाँ एक साथ ही खेलकूद और आमोद-प्रमोद किया करती थीं । एक दिन दोनों एक सुन्दर उपवन में स्थित एक सरोवर में जलक्रीड़ा कर रही थीं । उनके साथ अन्य अनेक सखियाँ भी थीं । सभी एक ही जगह अपने वस्त्र रखकर सरोवर में खेलने उतरी थीं । वायु देवता ने उपहास करने हेतु अपने झोकों से उनके वस्त्रों को उड़ाकर आपस में मिला दिया था । इसके फलस्वरूप जल से बाहर निकलने के बाद उन लोगों को अपने-अपने वस्त्र ढूढ़ने में कठिनाई और गड़बड़ी होने लगी । राजकुमारी शर्मिष्ठा ने भूल से देवयानी के वस्त्र पहन लिये । देवयानी ने जब अपने वस्त्र ढूढ़ते हुए उन्हें शर्मिष्ठा के शरीर पर देखा, तो वह चिढ़ गयी और अभिमानपूर्वक बोली, "तूने असुर-कन्या होकर मेरे वस्त्र कैसे पहन लिये? तेरे अन्दर इतना भी सदाचार नहीं है ! तेरा ऐसा दु:साहस ! तेरा भला नहीं होगा ।"

शर्मिष्ठा ने कहा, "तू भिखारी ब्राह्मण की बेटी है, पर तेरे अन्दर इतना अहंकार कहाँ से आया? मेरे पिता की कृपा से ही तुम लोगों की गृहस्थी चलती है । जा, जा, तू जो भी कर सके, कर लेना !"

इसी प्रकार झगड़ा बढ़ता गया। आखिरकार शर्मिष्ठा और उसकी संगिनियों ने मिलकर देवयानी को पकड़कर एक कुएँ में गिरा दिया और वापस लौट गयीं। कुएँ में अधिक जल न था, इसलिये देवयानी के प्राण बच गये ।

राजा ययाति उसी वन में शिकार खेलने गये थे । अपने घोड़े को पानी पिलाने के निमित्त वे उस कुएँ के पास गये । उन्होंने भीतर झाँककर देखा कि उसमें एक अपूर्व सुन्दरी कन्या खड़ी है । उन्होंने पूछा, "तुम कौन हो? और इस कुएँ में कैसे गिर पड़ी? सब सच-सच बताओ ।" देवयानी ने उन्हें अपना परिचय दिया और शर्मिष्ठा के साथ अपने झगड़े की बात बतायी । उसने यह भी बताया कि किस प्रकार वह अपनी संगिनियों के साथ मिलकर उसे कुएँ में फेंककर भाग गयी है । ययाति उसे कुएँ से बाहर निकालकर अपने महल में ले गये और शुक्राचार्य के पास इसकी सूचना भेजी ।

* * *

शुक्राचार्य तत्काल अपनी कन्या को देखने राजमहल में आ पहुँचे । देवयानी के मुख से शर्मिष्ठा के व्यवहार की बात सुनकर उन्हें बड़ा दुख हुआ और वे बोले –

"देवयानी, सभी को अपने-अपने कर्मों के फल भोगने पड़ते हैं । भले कार्यों के भले फल और बुरे कार्यों के बुरे फल हुआ करते हैं । तुम्हें जो कष्ट मिले हैं, वे तुम्हारे ही किसी अनुचित कर्म के फलस्वरूप प्राप्त हुए हैं । तुम्हारे इस दु:खभोग के लिये दूसरा कोई भी उत्तरदायी नहीं है ।

"देवयानी, जो व्यक्ति दूसरों की कटु वाणी – निन्दा सहन कर सकता है, वह सारे संसार को जीत सकता है । जैसे केवल घोड़ों की लगाम पकड़कर बैठे रहने से ही सारथी नहीं हो जाता, बल्कि जो घोड़ों को नियंत्रण में रखकर उन्हें चला सकता है, वही अच्छा सारथी है, वैसे ही जो व्यक्ति अपने क्रोध के आवेग को संयत करके व्यवहार कर सकता है, वही जितेन्द्रिय और बुद्धिमान है । अक्रोध-वृत्ति तथा क्षमाभाव के द्वारा क्रोध पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है ।

"जो क्रोध का दमन कर सकता है, निन्दा को सहन कर सकता है और स्वयं कष्ट पाकर भी कष्टदाता को स्वेच्छापूर्वक कष्ट नहीं देता, उसे धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष – इन चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति होती है ।

"तुमने क्रोध के आवेश में शर्मिष्ठा से जो कुछ कहा है, वह सब सत्य है, तथापि तुम दोनों की आयु कच्ची है और बुद्धि भी अपरिपक्व है, परन्तु यदि उस बात पर मैं भी क्रुद्ध हो जाऊँ, इसे मान लूँ, तो यह नीतिविरुद्ध होगा । अज्ञान के कारण बच्चों में कलह होता है, उसमें बड़े-बूढ़े शामिल नहीं होते । बड़े लोग इसे उदासीनता की दृष्टि से देखते हैं, क्योंकि बालसुलभ स्वभाव की विचित्र लीलाएँ उन्हें अज्ञात नहीं हैं ।

देवयानी – "पिताजी, यह सत्य है कि मैं एक अल्पबुद्धि बालिका मात्र हूँ, परन्तु आपकी कृपा से धर्म-अधर्म के विषय में मैं जानती हूँ और यह भी जानती हूँ कि क्षमाभाव के

सद्गुण के विषय में भी मुझे जानकारी है। परन्तु एक बात मैं समझ नहीं पा रही हूँ और वह यह कि जिस शिष्य के मन में गुरु के प्रति सम्मान का भाव नहीं है, उसके प्रति गुरु की कृपा भला कैसे हो सकती है? और जो अपने ही कुल की निन्दा करता है और अपने चारित्रिक दोष पर गर्व का अनुभव करता है, कोई बुद्धिमान उस पापी का मंगल-कामना भला कैसे कर सकता है? भले लोगों का साहचर्य ही कल्याणकारी है और वही वांछनीय है, परन्तु बुरे या दुष्ट लोगों का संग कभी भी वांछनीय या हितकर नहीं हो सकता।

"आप जो भी कहिये, दुष्ट शर्मिष्ठा के वाक्य-वाणों ने मेरा हृदय विदीर्ण कर दिया है। मैं भिखारी की पुत्री हूँ? मेरे पिता की जीवन-यात्रा उसके पिता की दया पर निर्भर करती है? नहीं, नहीं, यदि वह आजीवन मेरी दासी होकर रहे, तभी मेरे हृदय को शान्ति मिलेगी !"

इस अन्तिम उक्ति ने शुक्राचार्य के चित्त में क्षोभ उत्पन्न किया और वे रोषपूर्वक राजा वृषपर्वा के पास गये।

शुक्राचार्य – "हे असुरराज, तुम्हारी पुत्री ने मेरा अपमान किया है; उसने मेरी कन्या की हत्या करने के उद्देश्य से कुएँ में गिरा दिया था। इसका समुचित न्याय न करने पर मैं तुम्हारा राज्य छोड़कर चला जाऊँगा और असुरों की रक्षा के लिये कुछ भी नहीं करूँगा। जो कर दिया है, वही बहुत है। मेरी कन्या का प्राण लेने की चेष्टा की गयी है और मैं स्वयं भी अपमानित हुआ हूँ। इस पर तत्काल कार्यवाही करो, अन्यथा मैं तुम्हारा राज्य छोड़कर अन्यत्र जा रहा हूँ।"

शर्मिष्ठा तथा देवयानी के बीच जो झगड़ा हुआ था, उसके विषय में वृषपर्वा को कुछ भी मालूम न था। उसने विनयपूर्वक इस विषय में अपनी अनभिज्ञता की बात कही। शुक्राचार्य ने आद्योपान्त सब कुछ कह सुनाया। सुनकर वह अत्यन्त दुखी हुआ और शुक्राचार्य से बारम्बार क्षमा माँगने लगा। इसके बाद वह बोला कि शर्मिष्ठा को जो भी दण्ड देने से देवयानी प्रसन्न हो, वह उसे स्वीकार होगा।

तब शुक्राचार्य उसे लेकर देवयानी के पास गये। वृषपर्वा ने देवयानी से कहा, "हे देवयानी, शर्मिष्ठा ने जो अपराध किया है, उसके लिये मैं – उसका पिता तुमसे क्षमा माँगता हूँ। तुम मेरे प्रति प्रसन्न होओ। तुम जो भी चाहोगी, मैं वही देने के लिये तैयार हूँ।"

देवयानी – "यदि आप इसके लिये तैयार हैं, तो शर्मिष्ठा तथा एक हजार कन्याएँ मेरी दासियाँ हों। भविष्य में मैं जहाँ भी जाऊँ, वहाँ वे मेरे साथ ही रहें।"

वृषपर्वा इस पर राजी हुआ और उसने शर्मिष्ठा से कहला भेजा कि उसे देवयानी की दासी होना पड़ेगा और वह तत्काल वहाँ चली आये। यह सुनकर शर्मिष्ठा बोली, "मेरे कारण असुर-कुल का अनिष्ट नहीं होना चाहिये। शुक्राचार्य के चले जाने पर हम लोगों का समूल नाश हो जायगा। उन्हें रोक लीजिये। मैं खुशी-खुशी देवयानी की दासता स्वीकार करती हूँ, ताकि हमारे वंश का अमंगल न हो।"

उसके बाद वह देवयानी के पास जाकर बोली, "मैं एक हजार कन्याओं के साथ तुम्हारी दासी होने आयी हूँ। अब तो प्रसन्न हो जाओ।" देवयानी ने शर्मिष्ठा से कहा, "ठीक है, मैं सन्तुष्ट हूँ। मेरा क्रोध दूर हो चुका है।"

इसके बाद वह राजा ययाति से बोली, "आप मेरे स्वामी हो जाइये। इन एक हजार दासियों के साथ मैं आपका वरण करती हूँ। आपने मेरा हाथ पकड़कर कुएँ से निकाला था, इसीलिये मैं आपका वरण करती हूँ। मुझे स्वीकार कीजिये।"

ययाति – "देवयानी, तुम ब्राह्मण-कन्या हो और मैं क्षत्रिय कुल का हूँ, अत: जब तक तुम्हारे पिता स्वयं कन्यादान नहीं करते, तब तक मैं तुम्हें ग्रहण नहीं कर सकता।"

देवयानी – "राजन, मैंने आपका मन-ही-मन वरण कर लिया है। अब इसे उलटाया नहीं जा सकता। परन्तु हाँ, मेरे पिता द्वारा कन्यादान करने पर समाज का भय नहीं रहेगा।"

तब देवयानी ने शुक्राचार्य को अपनी अभिलाषा से अवगत कराते हुए कहा, "पिताजी, नहूषपुत्र ययाति ने मेरा हाथ पकड़कर मृत्यु के मुख से मेरा उद्धार किया था। मैंने उन्हीं का पतिरूप में वरण कर लिया है। आप कृपा करके मुझे उनके साथ विवाह करने की आज्ञा दीजिये, क्योंकि उनके अतिरिक्त मैं अन्य किसी के भी साथ विवाह नहीं करूँगी।"

तदुपरान्त शुक्राचार्य ने शास्त्रोक्त विधि-विधान के अनुसार ययाति तथा देवयानी का शुभ विवाह सम्पन्न करा दिया और बोले, "यह शर्मिष्ठा भी आज से तुम्हारी हुई, परन्तु उसे कभी तुम अपनी शय्या पर मत बुलाना।"

इस प्रकार ययाति को देवयानी तथा शर्मिष्ठा की प्राप्ति हुई।

* * *

देवयानी के पटरानी बन जाने के बाद राजा ने उसकी इच्छा के अनुसार एक अलग भवन बनवाकर उसमें शर्मिष्ठा तथा उसके साथ की हजार दासियों के रहने की व्यवस्था कर दी। यथासमय देवयानी को पुत्र की प्राप्ति हुई। तब शर्मिष्ठा ने राजा के पास जाकर कहा, "हे राजन, मैं भी आपकी स्त्री हूँ। देवयानी के साथ आपके विवाह के समय मुझे भी आपको प्रदान किया गया था। आप मुझे स्वीकार कीजिये।"

ययाति बोले, "बात तो ठीक है, परन्तु उस समय शुक्राचार्य ने तुम्हारे साथ शय्या ग्रहण करने से मना किया था। मैं यदि वैसा करूँ, तो असत्य आचरण का दोषी होऊँगा।"

शर्मिष्ठा – "हे राजन, आप तो जानते ही हैं कि विद्वान्

लोग क्या कहते हैं ! उनका कहना है कि हास-परिहास के समय, स्त्री को प्रसन्न करने के लिये, विवाह के अवसर पर, जब जान जाने का खतरा हो अथवा धन के नाश की आशंका होने पर झूठ बोलने से पाप नहीं होता। अत: मुझे स्वीकार करने पर आपको पाप की सम्भावना नहीं है। फिर, उस समय मैंने भी तो आपको मन-ही-मन पति के रूप में वरण किया था। इसलिये स्त्री का जो अधिकार होता है, वह मेरा भी है, क्योंकि धर्मत: मैं आपकी ही पत्नी हूँ।''

ययाति बोले, ''माँगी गयी वस्तु धर्मविरुद्ध न हो, तो दे देना ही उचित है। तुम्हारी यह प्रार्थना धर्मसम्मत है, अत: मैं इसे अवश्य पूर्ण करूँगा।''

जब शर्मिष्ठा भी पुत्रवती हो गयी, तो समाचार पाकर देवयानी ने उससे पूछा, ''इस शिशु का पिता कौन है?''

यह सुनकर कि राजा ही उसका पिता है, देवयानी क्रोध से तमतमा उठी। उसने ययाति से कहा, ''आपने मेरे प्रति अत्यन्त अप्रिय कार्य किया है। अत: अब मैं आपके पास नहीं रहूँगी – मैं अपने पिता के घर जा रही हूँ।''

देवयानी ने जाकर शुक्राचार्य से कहा, ''पिताजी, देखिये, अधर्म की ही विजय हुई है। राजा द्वारा शर्मिष्ठा के तीन पुत्र हुए हैं। मेरी दासी होकर भी उसने छिपकर मेरा अधिकार छीन लिया है। धर्मज्ञ के रूप में विख्यात इस राजा ने मर्यादा का उल्लंघन किया है। आप इसके लिये कुछ कीजिये।''

देवयानी को लौटा लाने के उद्देश्य से ययाति भी उसके साथ ही गये थे। शुक्राचार्य उनसे बोले, ''महाराज, आपने धर्मवेत्ता होकर भी, काम के वशीभूत होकर ऐसा अधर्म किया है। अत: तुम शीघ्र ही वृद्धावस्था को प्राप्त होओगे।''

ययाति ने विनयपूर्वक सारी घटना का वर्णन करते हुए बताया कि उन्होंने समाज में प्रचलित किसी नियम को तोड़कर शर्मिष्ठा को ग्रहण नहीं किया। अर्थात् उन्होंने कोई अधर्म नहीं किया है। परन्तु शुक्राचार्य का क्रोध शान्त नहीं हुआ।

वे फिर बोले, ''देखिये, मेरी सारी कामनाएँ अभी अतृप्त हैं, अभी मेरी भोगेच्छा दूर नहीं हुई है। कृपा करके बताइये कि किस उपाय से मेरा यह बुढ़ापा दूर हो सकता है?''

शुक्राचार्य – ''हे राजा, मेरी बात असत्य नहीं हो सकती। तो भी यदि कोई स्वेच्छापूर्वक तुम्हारा यह बुढ़ापा ग्रहण करने को तैयार हो जाय, तो तुम इस शाप से मुक्त हो सकोगे।''

ययाति – ''तो फिर कृपा करके यह अनुमति दीजिये कि मेरे पुत्रों में से जो भी मेरे इस बुढ़ापे को ग्रहण करेगा; वही मेरे समस्त पुण्यों, कीर्ति तथा राज्य का अधिकारी होगा।''

शुक्राचार्य ने उन्हें ''तथास्तु'' कहकर आशीर्वाद दिया और सान्त्वना देते हुए विदा किया। ययाति अपने राज्य में लौटे। वे एक-एक कर अपने पुत्रों को बुलाकर पूछने लगे कि कोई उनका बुढ़ापा लेने के लिये राजी है या नहीं।

उन्होंने अपने बड़े पुत्र यदु को बुलवाकर कहा, ''देखो, शुक्राचार्य के शाप से मैं वृद्ध हो गया हूँ। तुम मेरे ज्येष्ठ पुत्र हो। कुछ दिनों के लिये मेरा बुढ़ापा लेकर अपनी जवानी मुझे दे दो। मेरी भोग-वासना अभी तक तृप्त नहीं हुई है। बाद में मैं तुम्हारा यौवन लौटा दूँगा।''

यदु बोले, ''अपनी इच्छा से भला कौन बूढ़ा होना चाहेगा? आप अन्य किसी को अपना बुढ़ापा दे दीजिये !''

ययाति – ''मेरे अति प्रिय बड़े पुत्र होकर भी तुमने मेरी यह छोटी-सी इच्छा पूरी नहीं की। इसलिये तुम्हें तथा तुम्हारे पुत्रों को मैं अपने राज्य के अधिकार से वंचित करता हूँ।''

उन्होंने अपने द्वितीय पुत्र तुर्वसु को बुलवाकर वही बात कही। वह बोला, ''वृद्धावस्था मैं नहीं ले सकूँगा।''

ययाति – ''मेरे पुत्र होकर भी तुमने मेरी यह कामना पूरी नहीं की, अत: तुम म्लेच्छों के राजा होकर, उन्हीं लोगों का अनार्य आचार ग्रहण करोगे।''

देवयानी के दोनों पुत्रों के राजी न होने पर राजा ने शर्मिष्ठा के तीनों पुत्रों को बुलवाया।

शर्मिष्ठा के बड़े पुत्र द्रुह्यु ने बताया कि वह 'बुढ़ापा' लेने को राजी नहीं है। राजा ने उसे भी सिंहासन आदि के अधिकारों से वंचित करके भोजों के देश में भेज दिया। इसके बाद उन्होंने अनु से 'जरा' लेने को कहा। वह बोला, ''वृद्ध हो जाने पर व्यक्ति के लिये श्रौत तथा स्मार्त कर्मों का अनुष्ठान करना कठिन हो जाता है। वह किसी काम का नहीं रह जाता। अत: मैं बुढ़ापा नहीं लेना चाहता।''

ययाति – ''तुमने जैसे बुढ़ापे की निन्दा की, अत: तुम्हारे पुत्र युवावस्था में ही मृत्यु को प्राप्त होंगे और तू भी श्रौत-स्मार्त कर्मों से वंचित हो जायगा।''

उसे यह अभिशाप देने के बाद उन्होंने अपने सबसे छोटे पुत्र पूरु को बुलवाया और उससे बोले, ''मैं शुक्राचार्य के शाप से जराग्रस्त हो गया हूँ। परन्तु मेरी भोग की कामनाएँ अब भी अतृप्त हैं। तुम मेरे प्रिय पुत्र हो, अत: क्या तुम कुछ काल के लिये मेरा वार्धक्य लेकर अपना यौवन दे सकते हो, ताकि मैं अपनी कामनाओं को तृप्त कर सकूँ? बाद में मैं तुम्हारा यौवन फिर वापस लौटा दूँगा।''

पूरु बोला, ''महाराज, आप मेरे जन्मदाता हैं, यह शरीर आपका ही दिया हुआ है। अत: आपका बुढ़ापा लेने में मुझे क्या आपत्ति हो सकती है ! आपकी जितने दिन भी इच्छा हो, मेरी यह जवानी लेकर भोग कीजिये। मैं आपकी आज्ञा के अनुसार ही चलूँगा।''

ययाति – ''पूरु, मैं तुम पर बड़ा प्रसन्न हूँ। मैं तुम्हें वर देता हूँ कि तुम और बाद में तुम्हारे वंशज ही मेरे राज्य के

अहंकार के दो रूप – कच्चा 'मैं' और पक्का 'मैं'

(श्रीरामकृष्ण-वचनामृत से संकलित)

केशव सेन से ब्रह्मज्ञान की चर्चा हो रही थी।... मैंने कहा, 'मैं' और 'मेरा' – कहना अज्ञान है। 'मैं कर्ता हूँ, यह स्त्री, पुत्र, सम्पत्ति, मान, प्रतिष्ठा – यह सब मेरा है' – यह विचार बिना अज्ञान के नहीं होता। ... मैं तुमसे पूरा 'अहं' त्यागने को नहीं कहता – तुम 'कच्चा अहं' छोड़ दो। 'मैं कर्ता हूँ', 'यह स्त्री और पुत्र मेरे हैं', 'मैं गुरु हूँ' – इस तरह का अभिमान 'कच्चा अहं' है – इसी को छोड़ दो। पक्के अहं को बनाए रखो। 'मैं ईश्वर का दास हूँ, उनका भक्त हूँ; मैं अकर्ता हूँ और वे ही कर्ता हैं' – ऐसा सोचते रहो।... 'मैं सम्प्रदाय का नेता हूँ, मैंने सम्प्रदाय बनाया है, मैं लोगों को शिक्षा दे रहा हूँ' – इस तरह का अभिमान 'कच्चा अहं' है। ... यदि ईश्वर का साक्षात्कार होने के बाद किसी को आदेश मिले और तब यदि वह प्रचार का बीड़ा उठाए – लोगों को शिक्षा दे, तो कोई हानि नहीं। उसका अहं 'कच्चा अहं' नहीं, 'पक्का अहं' है। इसमें कोई दोष नहीं है। (परि.४७/१)

'मैं' का त्याग बिना किये कुछ होने का नहीं।... मैं कच्चा 'मैं', दुष्ट 'मैं' छोड़ने को कहता हूँ। पर पक्के 'मैं' में, ईश्वर के दास 'मैं' में, बालक के 'मैं' में, विद्या के 'मैं' में दोष नहीं। संसारियों का 'मैं' – अविद्या का 'मैं', कच्चा 'मैं' है; यह मोटी लाठी की तरह है। सच्चिदानन्द-सागर के पानी को वही लाठी दो भागों में बाँट रही है। पर ईश्वर का दास 'मैं', बालक का 'मैं' या विद्या का 'मैं' पानी के ऊपर की पानी की रेखा की तरह है। पानी एक है; साफ दिख रहा है, केवल बीच में एक रेखा खिंची हुई, मानो पानी के दो भाग कर रही है। वस्तुत: पानी एक है – साफ दीख पड़ रहा है। शंकराचार्य ने विद्या का 'मैं' रखा था – लोकशिक्षा के लिए। ब्रह्मज्ञान के हो जाने पर भी वे अनेकों में विद्या का 'मैं' – भक्त का 'मैं' रख देते हैं। हनुमान साकार और निराकार के दर्शन करने के बाद सेव्य-सेवक का भाव लेकर, भक्त का भाव लेकर रहते थे। उन्होंने श्रीरामचन्द्र से कहा था, 'राम, कभी सोचता हूँ तुम पूर्ण हो और मैं अंश हूँ; कभी सोचता हूँ, तुम सेव्य हो और मैं सेवक हूँ; और राम! जब तत्त्वज्ञान होता है तब देखता हूँ, तुम्हीं 'मैं' हो, मैं ही 'तुम' हूँ।' (परि.८५/३)

वे ही सब कुछ हुए हैं। जब तक उन्हें तुम नहीं समझ सकते हो, तभी तक 'मैं-मैं' कर रहे हो। सब लोग यदि उन्हें जान लें, तो तर जायँ। परन्तु बात यह है कि किसी को दिन निकलते ही खाने को मिल जाता है, कोई दोपहर के समय भोजन पाता है और कोई शाम को; पर खाना सभी को मिल जाता है – कोई भई बिना खाये हुए नहीं रहता। इसी तरह अपने स्वरूप का ज्ञान सभी प्राप्त करेंगे।

मैं क्या हूँ, इसे जरा खोजो तो ! क्या मैं हाड़ हूँ? माँस, खून या आँत हूँ? 'मैं' को खोजते-खोजते 'तुम' आ जाता है; अर्थात् भीतर उस ईश्वर की शक्ति के सिवा और कुछ नहीं है। 'मैं' नहीं है, 'वे' हैं।... 'मैं' का सम्पूर्ण त्याग नहीं होता।

पिछले पृष्ठ का शेषांश

अधिकारी होंगे और तुम सभी की मनोकामना पूर्ण होगी।''

इसके बाद राजा ने मंत्रशक्ति के द्वारा पूरु का यौवन लेकर उसे अपना बुढ़ापा दे दिया और काफी काल तक अपनी इच्छानुसार भोगसुख का आस्वादन करने लगे। तदुपरान्त निर्दिष्ट समय बीत जाने पर भी जब उन्होंने देखा कि उनकी भोग-वासना अब भी पहले के समान ही तीव्र तथा अतृप्त बनी हुई है, तब उन्होंने पुरू को बुलवाया और उसका यौवन लौटाते हुए बोले, ''पुरु, तुम्हारा यौवन लेकर मैं इतने दिनों तक स्वेच्छानुसार सुखभोग करता रहा, परन्तु तृप्ति कहीं भी नहीं मिली। मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि –

न यातु कामः कामनाम् उपभोगेने शाम्यति।
हविषा कृष्ण-वर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।।

– 'काम्य वस्तु के उपभोग के द्वारा कामनाओं की तृप्ति नहीं होती। उसी प्रकार जैसे कि अग्नि में घी डालने से वह बुझती नहीं, बल्कि बढ़ती जाती है।'

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात् तृष्णां परित्यजेत्।।

– 'पृथ्वी पर जितना भी अनाज, सोना, पालतू पशु तथा स्त्रियाँ हैं, वे सभी यदि एक व्यक्ति को मिल जाय, तो भी उसकी तृप्ति नहीं होगी, अत: तृष्णा को त्याग देना चाहिये।'

''एकमात्र तृष्णा के त्याग द्वारा ही मनुष्य सुखी हो सकता है। मैंने अपना स्वयं का अनुभव तुम्हें बता दिया। अब तुम आनन्दपूर्वक राज्य करो। मैं सब कुछ त्याग करके ब्रह्म-ध्यान-परायण होकर, ममता के भार से मुक्त चित्त के साथ तपस्या करने जा रहा हूँ। हे प्रिय पुरु, तुम्हारा कल्याण हो।''

इसके बाद यथारीति पुरु का राज्याभिषेक सम्पन्न करने के बाद ययाति तपस्या करने के लिये वन में चले गये।

(ययाति के पुत्रों में यदु के वंशज यादव, तुर्वसु के वंशज यवन, द्रह्यु के वंशज भोज और पुरु के वंशज पौरव हुए।)

(आदिपर्व, सम्भवपर्व, ७८-८५)

यह सब जाने का नहीं, तो रहने दो इसे ईश्वर का दास बना। मैं ईश्वर का भक्त हूँ, ईश्वर का दास हूँ, ईश्वर का पुत्र हूँ – यह अभिमान अच्छा है। जो 'मैं' कामिनी और कांचन में फँसता है, वह कच्चा 'मैं' है, उसी का त्याग करना चाहिए।

ज्ञान के लक्षण हैं। पहला यह कि अभिमान न रह जायेगा। ... ज्ञान-विचार के बाद समाधि के होने पर 'मैं' 'मेरा' यह कुछ नहीं रह जाता। परन्तु समाधि होना बड़ा कठिन है। 'मैं' किसी तरह जाना नहीं चाहता।... इसीलिए व्यक्ति को बारम्बार इस संसार में आना पड़ता है। (परि.११८/२)

गौ 'हम्बा' (हम-हम) करती है, इसलिए उसे इतना दुःख मिलता है। बैल को दिन भर हल जोतना पड़ता है – गरमी हो या वर्षा। और फिर उसे कसाई काटते हैं। इतने पर भी बचाव नहीं होता, चमार चमड़े से जूते बनाते हैं। अन्त में आँत की ताँत बनती है। धुनिया के हाथ में जब वह 'तूँ-तूँ' करती है, तब कहीं उसका निस्तार होता है।

जब जीव कहता है, 'नाहं नाहं नाहं, हे ईश्वर, मैं कुछ भी नहीं, तुम्हीं कर्ता हो; मैं दास हूँ, तुम प्रभु हो', तब उसका निस्तार होता है, तभी उसकी मुक्ति होती है। जब 'मैं' जाने का है ही नहीं, तो दास 'मैं' बना हुआ पड़ा रहे !... समाधि के बाद भी किसी किसी का 'मैं' रह जाता है – 'दास मैं', 'भक्त का मैं'। शंकराचार्य ने लोकशिक्षा के लिए 'विद्या का मैं' रखा था। ... यह पक्का 'मैं' है। (परि.११८/२)

कच्चा 'मैं' क्या है, जानते हो? मैं कर्ता हूँ, मैं इतने बड़े आदमी का लड़का हूँ, विद्वान् हूँ, धनवान हूँ, मुझे ऐसी बात कही जाय ! – ये सब कच्चे 'मैं' के भाव हैं। अगर कोई घर में चोरी करे और उसे अगर कोई पकड़ ले, तो पहले सब चीजें उससे छुड़ा लेता है, फिर मार-पीटकर उसे सीधा कर देता है, फिर पुलिस को सौंप देता है। कहता है, 'हूंऽ, नहीं जानता किसके घर में चोरी की है !' (परि.११८/२)

ईश्वर-प्राप्ति होने पर पाँच वर्ष के बच्चे जैसा स्वभाव हो जाता है। 'बालक का मैं' अर्थात् 'पक्का मैं'। बालक तीनों गुणों से परे है। सत्त्व, रज और तम में से किसी गुण के वश नहीं।... तमोगुण के वश में नहीं है। अभी तो उसने लड़ाई की और देखते-ही-देखते फिर गले से लिपट गया। कितना प्रेम और कितना खेल ! वह रजोगुण के भी वश में नहीं है। अभी उसने घरौंदा बनाया, कितनी मेहनत की, पर कुछ देर में सब पड़ा रह गया ! वह माता के पास दौड़ चला। कभी देखो तो एक सुन्दर धोती पहने हुए घूम रहा है, पर कुछ देर बाद देखो तो वह कपड़ा खुलकर गिर गया है। कभी देखो, वह कपड़े की बात ही बिलकुल भूल गया है या उसे बगल में ही दबाये धूम रहा है। यदि बच्चे से कहो, 'यह बड़ी अच्छी धोती है, यह किसकी धोती है?' तो वह कहेगा, 'यह मेरी धोती है – मेरे बाबूजी ले आये हैं।' अगर कहो, 'वाह, बच्चू, तू बड़ा अच्छा है, बच्चू, मुझे यह धोती दे दे' तो वह कहेगा – 'नहीं, मेरी धोती है, मेरे बाबूजी की दी हुई है। उँहूँ, मैं न दूँगा।' फिर उसे एक खिलौने पर या एक बाजे पर फुसला लो – वह पाँच रुपये की धोती तुम्हें देकर चला जायगा। पाँच वर्ष का बच्चा सत्त्वगुण के भी वश में नहीं है, पड़ोस के बच्चों से कितना प्यार है, बिना देखे रहा नहीं जाता, परन्तु माँ-बाप के साथ यदि किसी दूसरी जगह चला गया, तो वहाँ नये साथी मिल जाते हैं, उन्हीं पर सब प्यार हो जाता है, पुराने साथियों को एक तरह से बिल्कुल भूल जाता है। बच्चे को फिर जाति आदि का अभिमान भी नहीं होता। माता ने कह दिया कि वह तेरा दादा है, बस, उसे पूरा विश्वास हो गया कि यह मेरा दादा है। चाहे एक ब्राह्मण का लड़का हो और दूसरा कुम्हार का, दोनों एक ही पत्तल में खा सकते हैं। बच्चे में शुचिता और अशुचिता का भी विचार नहीं है, न लोक-लज्जा ही है। (परि.११८/२)

फिर 'वृद्ध का मैं' भी है। वृद्ध के बहुत से पाश हैं – जाति, अभिमान, लज्जा, घृणा, भय, विषय-बुद्धि, पटवारी-बुद्धि, कपटाचरण। अगर किसी से वह नाराज हो जाता है, तो सहज ही उसका रंज नहीं मिटता। सम्भव है, वह जीवन भर कसकता रहे। तिस पर विद्वत्ता का अहंकार और धन का अहंकार भी है। वृद्ध का 'मैं' कच्चा 'मैं' है।

चार-पाँच (तरह के) आदमी हैं, जिन्हें ज्ञान नहीं होता – जिसे विद्या का अहंकार है, या धन का अहंकार है, या विद्वत्ता का अहंकार है। इस तरह के आदमियों से यदि कहा जाय, 'वहाँ एक बड़े अच्छे महात्मा आये हैं, दर्शन करने चलोगे?' – तो कितने ही बहाने करके कहता है, 'न, न, मैं नहीं जाऊँगा।' मन-ही-मन कहता है, 'मैं इतना बड़ा आदमी ! मैं क्यों जाऊँ?' तमोगुण का स्वभाव अहंकार है। अहंकार, अज्ञान, यह सब तमोगुण से होता है। (परि.१२३/२)

जीव का अहंकार ही माया है। यही अहंकार कुल आवरणों का कारण है। 'मैं' मरा कि बला टली। यदि ईश्वर की कृपा से 'मैं अकर्ता हूँ' यह ज्ञान हो गया तो वह मनुष्य तो जीवन्मुक्त हो गया। फिर उसे कोई भय नहीं। (परि.१९/६)

माया या 'अहं' मेघ के जैसा है। मेघ का एक छोटा-सा टुकड़ा भी हो, तो उसके कारण सूर्य नहीं दीख पड़ते। उसके हटने पर ही सूर्य दीख पड़ते हैं। यदि श्रीगुरु की कृपा से एक बार अहंबुद्धि दूर हो जाय, तो ईश्वर के दर्शन होते हैं।

सिर्फ ढाई हाथ की दूरी पर श्रीरामचन्द्र हैं, जो साक्षात् ईश्वर हैं; पर बीच में सीतारूपिणी माया का पर्दा पड़ा हुआ है, इसीलिये लक्ष्मण-रूपी जीव को (राम-रूपी) ईश्वर के दर्शन नहीं होते। देखो, तुम्हारे मुँह के आगे मैं इस अँगौछे की

(शेष अगले पृष्ठ पर)

चरित्र का बल

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए । प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है । – सं.)

अँगरेजी में एक कहावत है – "If wealth is lost, nothing is lost. If health is lost, something is lost. If character is lost, everything is lost."

यदि धन नष्ट होता है, तो कुछ भी नष्ट नहीं होता । यदि स्वास्थ्य नष्ट होता है, तो कुछ अवश्य नष्ट होता है । पर यदि चरित्र नष्ट होता है, तो सब कुछ नष्ट हो जाता है ।'' यह चरित्र व्यक्ति का प्राण है, जिसके न रहने से वह चलते-फिरते मुर्दे के ही समान है । चरित्र वह गुण है, जो जीवन को सुषमा प्रदान करता है, वह दीप्ति है, जो अन्धकार के क्षणों में व्यक्ति को पथ दिखाती है; वह चट्टान है, जो प्रलोभनों के झंझावात को झेल लेती है; वह निकष है, जो व्यक्ति का मूल्यांकन करता है । व्यक्ति की महानता उसके चरित्र पर निर्भर करती है । कुर्सी किसी व्यक्ति को महान् नहीं बनाती । सत्ता से प्राप्त महत्ता क्षणिक होती है, वह सत्ता से अलग होते ही नष्ट हो जाती है । पर चरित्र से प्राप्त महत्ता शाश्वत होती है, वज्राघात भी उसका नाश नहीं कर सकता ।

चरित्र तीन स्तम्भों पर खड़ा होता है – पहला कर्मठता; दूसरा निर्भीकता; और तीसरा नि:स्वार्थता । चरित्रवान व्यक्ति में आलस्य का अभाव होता है, वह उद्यमशील होता है, कोई भी कार्य उसके लिए असम्भव नहीं होता । उसमें भय का सर्वथा अभाव होता है । वह अन्याय के सामने नहीं झुकता । उसमें इतना साहस भरा होता है कि न्याय और सत्य की रक्षा के लिए वह जोखिम उठाने से नहीं कतराता । उसमें दूसरों के लिए जीने की प्रवृत्ति होती है । वह मानता है कि अपने लिए तो पशु भी जीते हैं, मानव-जीवन की सार्थकता वह इसमें देखता है कि वह दूसरों के काम आए ।

यहाँ पर प्रश्न किया जा सकता है कि यदि मनुष्य केवल दूसरों के लिए जिये, तो अपने परिवार की देखभाल कैसे करेगा? इसका उत्तर यह है कि जो व्यक्ति पूरी तौर से दूसरों के लिए जी रहा है, उसे अपने परिवार को देखने की चिन्ता नहीं करनी पड़ती, उसकी व्यवस्था अपने आप हो जाती है । यह कर्म का अटल सिद्धान्त है । हाँ, जो अभी पूरी तरह से दूसरों के लिए अपना जीवन नहीं दे सकता, वह कुछ समय दूसरों के लिए निकाले । वही उसके चरित्र में निखार पैदा करेगा । चरित्र को निखारनेवाला तत्त्व नि:स्वार्थता ही है । यदि व्यक्ति कर्मठ और निर्भीक हो, पर अपने स्वार्थ में डूबा हो, तो ऐसा व्यक्ति भले ही अपने और अपने परिवार के लिए उपयोगी हो, पर वह दूसरों के लिए उपयोगी नहीं हो पाता । जब चरित्र नि:स्वार्थता की कसौटी पर कसा जाता है, तब उसमें निखार उत्पन्न होता है । ऐसा ही व्यक्ति समाज और देश के काम आता है ।

चरित्र को रीढ़ की हड्डी कहा गया है । जिस प्रकार यदि रीढ़ की हड्डी दुर्बल हो या खराब हो, तो मनुष्य अपंग हो जाता है, उसी प्रकार चरित्र के बिना व्यक्तित्व भी अपंग या खोखला हो जाता है ।

जिस देश में चरित्रवान व्यक्तियों की संख्या जितनी अधिक होगी, वह देश जीवन के सभी क्षेत्रों में उतना ही समृद्ध होगा । मन्दिर में जाना, पूजा-पाठ आदि करना चरित्र की कसौटी नहीं है । ये चरित्र को प्रकट करने का साधन बन सकती हैं, यदि इन क्रियाओं के पीछे हमारा दिखावे या स्वार्थपूर्ति का मनोभाव न हो । खेद की बात तो यह है कि अधिकांशत: हमारी धार्मिक क्रियाएँ भी हमारे स्वार्थ-साधन का ही अंग होती हैं और इसलिए वे हमारे चरित्र के प्राकट्य में साधक होने के बदले बाधक बन जाती हैं ।

❑❑❑

पिछले पृष्ठ का शेषांश

ओट करता हूँ। अब तुम मुझे नहीं देख सकते। पर हूँ मैं तुम्हारे बिलकुल पास। ऐसे ही औरों की अपेक्षा भगवान पास हैं, पर माया-आवरण के कारण तुम उनके दर्शन नहीं पाते। जीव स्वयं तो सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, परन्तु माया या अहंकार के कारण वे नाना उपाधियों में पड़े हुए अपने स्वरूप को भूल गए हैं। (परि.१९/६)

ज्ञानलाभ होने से अहंकार दूर हो सकता है। ज्ञानलाभ होने से समाधि होती है। समाधि होने पर ही अहंकार जाता है। ऐसा ज्ञानलाभ बड़ा दुर्लभ है। वेदों में कहा है कि मन सप्तम भूमि पर जाने से समाधि होती है। समाधि होने से ही अहंकार दूर हो सकता है। (परि.१९/६)

यदि सद्गुरु हो तो जीव का अहंकार तीन ही पुकार में दूर होता है। गुरु कच्चा हुआ तो गुरु की भी दुर्दशा है और शिष्य की भी। शिष्य का अहंकार दूर नहीं होता, न उसके भवबन्धन की फाँस ही कटती है। कच्चे गुरु के पल्ले पड़ा तो शिष्य मुक्त नहीं होता।'' (परि.१९/५) ❑❑❑

माँ के चरणों में आश्रय

लक्ष्मीनारायण सिन्हा

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

(गतांक से आगे)

दीक्षा के बाद कई बार मैंने माँ का दर्शन किया है जितनी बार उन्हें देखा है, उतनी ही बार उनके पास जाने के पहले सोचा है कि वे देवी हैं, जगदम्बा हैं – मानवी नहीं हैं। उन दिनों जयरामबाटी जाना बहुत कष्टकर था, फिर भी माँ के दर्शन के लिये मन ऐसा व्याकुल हो जाता कि साल में तीन बार जयरामबाटी जाता। जाते समय मोहिनी मिल से एक जोड़ा लाल किनारी की साड़ी, कुछ फल और थोड़ी-सी मिठाइयाँ साथ ले जाता। प्रणाम करते समय वह सब देकर कभी दो या कभी चार रुपये प्रणामी देता। एक बार प्रणाम करते मन-ही-मन सोचा कि मैंने माँ को जो साड़ी दी है, उसे भला वे क्या पहनेंगी! शायद किसी को दे देंगी। प्रणाम करके उठते ही माँ ने कहा, "स्नान कर आओ, बेटा।" स्नान करके पुन: माँ को प्रणाम करने गया, तो देखा वे एक नयी साड़ी पहने बैठी हैं। प्रणाम करके उठते ही उन्होंने स्नेहपूर्वक कहा, "देखो बेटा, तुम्हारी लायी साड़ी पहनी हूँ या नहीं।" मैंने माँ की पहनी साड़ी को देखने के बोला, "हाँ माँ, मैं यही साड़ी लाया था।" कहते-कहते मेरी आँखों में आँसू आ गये। माँ बोलीं, "बेटा, तुम लोगों की लायी साड़ी ही तो मैं पहनती हूँ।" मैं अवाक् होकर सोच रहा था कि मैंने किसको प्रणाम किया है। ये तो साक्षात् अन्तर्यामिनी जगदम्बा हैं!

जितने दिन जयरामबाटी में था, माँ रोज खाने के बाद अपने हाथ से दो पान देतीं। एक उसी समय खा लेता, दूसरा विश्राम करने के बाद हाथ-मुँह धोकर खाता। एक दिन दूसरा पान खा रहा था, तभी भीतर के कमरे से माँ ने मुझे पुकारा। माँ की पुकार सुनकर सोच रहा था कि मुँह का पान थूककर माँ के पास जाऊँगा। तत्काल माँ की आवाज सुनाई दी, "पान शुद्ध वस्तु है, खाते हुए ही आओ।" इसी प्रकार मेरे साथ बातचीत करतीं। सोचता वे देवी हैं, लेकिन अगले क्षण ही सब भूल जाता और उनके साथ सहजता से बात करने में कभी कोई संकोच नहीं होता। अब समझ रहा हूँ कि वे दया करके ही मेरे साथ ऐसा सहज व्यवहार किया करती थीं। मैं भी वैसा ही कर पाता, वह भी उनकी दया थी।

कई बार बागबाजार में 'मायेर बाड़ी' में भी माँ का दर्शन करने गया हूँ। वहाँ स्वयं शरत् महाराज माँ की देखभाल करते थे, इसके सिवा माँ के अन्य सेवक तथा सेविकागण भी थे। अत: वहाँ दर्शन तथा बातचीत के लिये कई तरह के नियम रहते थे। उद्बोधन में माँ को प्रणाम करके लौटते समय वे कहतीं, "बलराम-मन्दिर में राखाल है, लाटू है। उन्हें प्रणाम करके जाना। गिरीश बाबू को भी प्रणाम करके जाना।" कभी-कभी मास्टर महाशय से मिलकर उन्हें प्रणाम करके जाने को कहतीं। गिरीश बाबू बड़े उदार स्वभाव के व्यक्ति थे। उनके पास जाने पर वे बिना खिलाये नहीं छोड़ते। उनके घर भोजन में कम-से-कम दो-तीन तरह के व्यंजन रहते। उन लोगों का हृदय का प्रेम था। उस प्रेम का घराना ही अलग था – 'रामकृष्ण-सारदा घराना'। जैसा बाबूराम महाराज का, वैसा ही गिरीश बाबू का, वैसा ही मास्टर महाशय का, वैसा ही बलराम बाबू के पुत्र रामकृष्ण बाबू का। मायेर बाड़ी से तो बिना प्रसाद पाये आने का सवाल ही नहीं था। बलराम-मन्दिर में या गिरीश बाबू के यहाँ जाने पर भी यही बात थी।

एक बार उद्बोधन में माँ को प्रणाम करके प्रणामी, फल-मिठाई और साड़ी देने पर माँ ने कहा, "तुम सब लोग तो यहीं देते हो, शरत् को भी कुछ देते हो क्या?' उत्तर में 'नहीं' कहने पर माँ ने कहा था, "यहाँ पर थोड़ा-सा कुछ देने से ही हो जायगा, परन्तु शरत् को कुछ देना।" उसके बाद से शरत् महाराज को प्रणाम करके दस रुपये देता। माँ को कभी दो रूपये, तो कभी चार रुपये प्रणामी देता; इससे अधिक कभी दिया हो, याद नहीं। शरत् महाराज का स्नेह पाने का सौभाग्य माँ के ही माध्यम से हुआ था। उन्हें जितना ही देखा हूँ, उतना ही मुग्ध हुआ हूँ। और उनके हृदय के बारे में क्या बताऊँ? उनके व्यवहार में सदैव एक असाधारण व्यक्तित्व का प्रभाव अनुभव किया है। लगता – बाबा, मानो हिमालय हों! उनके सामने जाने का किसमें साहस है?" पर साहस करके जाने पर लगता कि कितने अपने हैं! पिता के समान। वस्तुत: उनके व्यक्तित्व में एक ही आधार में कठोरता और कोमलता दोनों ही थीं। माँ की अन्तिम बीमारी के समय जब

भक्तों के लिए 'माँ को नीचे से ही प्रणाम करने का' उनका सख्त आदेश था, तब भी सब भक्तों के चले जाने पर शरत् महाराज मुझे स्नेहपूर्वक कहते, ''ऊपर जाकर माँ को दूर से प्रणाम कर आओ, पर माँ से बात बिल्कुल मत करना।'' उन दिनों जितनी बार भी गया हूँ, शरत् महाराज ने कभी बिना प्रसाद पाये नहीं लौटने दिया। एक दिन 'मायेर बाड़ी' में शरत् महाराज के निर्देशानुसार माँ को प्रणाम करने ऊपर गया। देखा – माँ जमीन पर बिछे बिस्तरे पर सोयी हैं, नेत्र बन्द हैं। दूर से प्रणाम करके उठा, तो देखता हूँ कि वे मेरी ही ओर देख रही हैं। उनके नेत्रों में अपार करुणा भरी है। वह दृष्टि आज भी नहीं भूल पाया हूँ। मैंने कोई बात नहीं की, माँ ने भी कुछ नहीं कहा। लेकिन उनकी वह करुणापूर्ण दृष्टि ही कह रही थी कि माँ मुझे सदा-सर्वदा के लिए अभय आश्रय दे रही हैं। वही दर्शन माँ के स्थूल शरीर में मेरा अन्तिम दर्शन था और वही प्रणाम स्थूल शरीर में माँ को मेरा अन्तिम प्रणाम था। उसी रात माँ ने देहत्याग दिया था। उस दिन भी दोपहर को दर्शन के बाद शरत् महाराज के आदेश से प्रसाद पाया था। अन्तिम बीमारी में रोग झेलते झेलते माँ के शरीर का रंग मलिन हो गया। अगले दिन सुबह महासमाधि में लेटी माँ के चरणों में प्रणाम करते समय मैंने फूलों से आच्छादित माँ के भागवती तनु का दर्शन किया। मुखमण्डल अनावृत था। देखा – माँ का रोग हुआ मलिन वर्ण पहले की तरह उज्जवल हो उठा है। बल्कि 'उज्ज्वल' कहना गलत होगा, माँ का मुखमण्डल मानो दिव्य ज्योति से उद्भासित था। नेत्रों से अश्रुधारा बहाते हुए मैं केवल यही सोच रहा था कि उनका पूर्वदृष्ट वह मलिन वर्ण कैसे ज्योतिर्मय हो उठा है?

एक बार जयरामबाटी में माँ का दर्शन करने गया था। उस दिन वर्धमान से एक भक्त एक रसगुल्ला ले आये थे। उसका वजन करीब १५ सेर रहा होगा। सभी लोग देखकर अवाक् थे! भक्त ने कहा, ''मैंने हलवाई से आधा मन का रसगुल्ला बनाने को कहा था, परन्तु वह इससे बड़ा नहीं बना सका। अधिक न बना पाने पर भी मैंने उसे दो रुपये इनाम में दिये। माँ ने वह रसगुल्ला ठाकुर को भोग में दिया और सबको प्रसाद के रूप में बाँट दिया था। हर व्यक्ति को करीब एक-एक पाव मिला था।

१९१० ई. में मेरा विवाह हुआ। मेरे ससुर निर्धन थे। पर उनकी बहन की आर्थिक दशा प्राय: ठीक थी। उनकी उसी बहन अर्थात् मेरी पत्नी की बुआ ने मेरे विवाह का सम्बन्ध किया था। इसके पहले वे कई बार माँ का दर्शन कर चुकी थीं। विवाह के लगभग दो वर्ष बाद एक दिन मैंने उनसे कहा कि अगले दिन सुबह मैं माँ का दर्शन करने बागबाजार जाऊँगा, वे भी तैयार रहें। निर्दिष्ट समय पर जब मैं मायेर बाड़ी जाने के लिये तैयार हुआ, तो देखा कि उन्होंने मेरी पत्नी (नगेनबाला) को भी साथ ले लिया है। मेरे आपत्ति जताने पर वे बोलीं, ''नहीं, नहीं, वह भी साथ चले। माँ का दर्शन कर लेगी।'' फिर मैंने कुछ नहीं कहा। सुबह साढ़े सात बजे बागबाजार में 'मायेर बाड़ी' में पहुँचकर नीचे के कमरे में शरत् महाराज को प्रणाम किया। मेरी पत्नी का परिचय जानकर वे बोले, ''बहू को ऊपर ले जाओ।'' आगे-आगे मेरी पत्नी, उसके पीछे उसकी बुआ और सबसे पीछे मैं चला। ऊपर जाते ही सबसे पहले माँ पर दृष्टि गयी। माँ ने मेरी पत्नी से पूछा, ''बहू, किसके साथ आयी हो?'' तब तक बुआ और मैं वहाँ पहुँचे नहीं थे। माँ के पास ही गोलाप-माँ थीं। उन्होंने हँसकर कहा, ''यह कैसे बतायेगी कि किसके साथ आयी है?'' तभी माँ बोलीं, ''लगता है मेरे लड़के के साथ आयी हो?'' लेकिन माँ ने तब भी मुझे नहीं देखा था। माँ की बात समाप्त होने पर हम दोनों वहाँ पहुँचे थे। मेरी पत्नी को माँ ने पहली बार देखा, लेकिन उसी समय उससे ऐसे बातचीत करने लगीं मानो कितने दिनों की जान-पहचान हो। माँ को प्रणाम करके मैं नीचे चला गया। उसके बाद माँ से उनकी क्या बातचीत हुई, यह मैंने बाद में बुआ और पत्नी से जाना था। उनसे सुना था कि कुछ देर बातचीत करने के बाद माँ ने मेरी पत्नी से कहा, ''बहू, आज मैं गंगास्नान करने नहीं जाऊँगी। बात का दर्द बढ़ गया है। योगीन (योगीन-माँ) गंगास्नान करने जा रही है, तुम लोग उसके साथ जाओ।'' मेरी पत्नी और बुआ योगीन-माँ के साथ गंगास्नान करने गयीं। उसके बाद बुआ ने मेरी पत्नी से योगीन-माँ को प्रणाम करने को कहा। इस पर योगीन-माँ नाराज होती हुई बुआ से बोलीं, ''सामने गंगा है, तुमने कैसे यह बात कही? वह तो बच्ची है, पर तुम्हारी तो उम्र हो गयी है! तब बुआ ने पहले गंगा को प्रणाम कर बाद में योगीन-माँ को प्रणाम किया और मेरी पत्नी ने भी वैसा ही किया।

गंगास्नान कर 'मायेर बाड़ी' लौटने पर गोलाप-माँ ने मेरी पत्नी से कहा, ''माँ पूजाकक्ष में हैं, तुम्हें भीतर जाने को कहा है, जाओ।'' मेरी पत्नी ने देखा कि दरवाजा भिड़ाया हुआ है। थोड़ा-सा खोलते ही देखा कि माँ पूजा कर रही हैं। मेरी पत्नी मुग्ध होकर माँ की पूजा देखने लगी। मैंने बाद में उससे सुना था, पूजा में निरत माँ की वह मूर्ति अपूर्व लग रही थी। कुछ देर बाद माँ की दृष्टि दरवाजे की तरफ गयी। उन्होंने इशारे से मेरी पत्नी को बुलाया और अपने पास लगे एक आसन पर बैठने को कहा। पूजा समाप्त कर माँ ने मेरी पत्नी को दीक्षा दी। मेरी पत्नी दीक्षा के लिये बिल्कुल भी तैयार न थी। वस्तुत: दीक्षा के विषय में उसके मन में कोई धारणा ही न थी। लेकिन माँ ने इतनी सहजता से यह सब किया कि मेरी पत्नी को जरा भी असुविधा नहीं हुई। दीक्षा के

बाद माँ ने उसे ठाकुर का चित्र दिखाकर कहा था, ''ये ही गुरु हैं और ये ही इष्ट हैं। मैं गुरु नहीं, मैं तो केवल तुम लोगों की माँ हूँ।'' उसके बाद उन्होंने जैसा बताया था, वैसे ही आसन पर बैठकर थोड़ी देर जप करने को कहा। साथ ही उन्होंने यह भी बताया कि जप के समय हाथ की उँगलियाँ आपस में सटी होनी चाहिये, जरा भी दरार न रहे। जप समाप्त होने पर उन्होंने अपने आँचल में बँधा चाँदी का एक सिक्का मेरे पत्नी के हाथ में देकर अपने को प्रणाम करने को कहा। दीक्षा हो जाने के बाद माँ ठाकुर का प्रसाद स्वयं ही दोने में रख रही थीं और मेरी पत्नी को भी उस कार्य में सहायता करने को कहा। दोपहर में योगीन-माँ, गोलाप-माँ के अलावा अन्य कई भक्त-महिलाओं ने भी प्रसाद पाया था। उनके साथ मेरी पत्नी तथा उसकी बुआ ने भी प्रसाद पाया। मेरी पत्नी को माँ ने अपने पास ही बिठाया था और थोड़ा-सा प्रसाद अपने मुँह से स्पर्श करके मेरी पत्नी के पत्तल में दे दिया था। भोजन के बाद माँ हाथ-मुँह धोकर थोड़ा विश्राम कर रही थीं, तभी घर के पास चूड़ीवाले ने आवाज लगायी, ''रेशमी चूड़ी ले लो जी।'' माँ ने राधू दीदी से चूड़ीवाले को बुलाने को कहा। चूड़ीवाले के आने पर माँ ने राधू दीदी और मेरी पत्नी दोनों के दोनों हाथों में चार-चार चूड़ियाँ पहनाने को कहा। चूड़ी का रंग भी माँ ने स्वयं पसन्द किया था। चूड़ियाँ पहनना हो जाने पर बुआ के दोनों के लिये कीमत देने को उद्यत होने पर, माँ उन्हें मना करती हुई बोलीं, ''नहीं, राधू और बहू ने पहना है, चूड़ियों की कीमत मैं ही दूँगी।'' माँ ने ही चूड़ियों का दाम चुकाया। तब तक राधू दीदी का विवाह हो चुका था। मेरी पत्नी के चूड़ी से भरे हाथ देखकर माँ बहुत खुश हुईं और ठाकुर को प्रणाम करने को कहा। मेरी पत्नी ने ठाकुर को प्रणाम करने के बाद श्रीमाँ, गोलाप-माँ, योगीन-माँ और अपनी बुआ को प्रणाम किया। यह घटना १९१२ ई. की है। उस समय मेरी पत्नी की आयु बारह साल थी।

उस दिन विश्राम के बाद माँ छत पर जाकर थोड़ी देर बैठी सिर के बाल खोलकर सुखा रही थीं। उन्होंने मेरी पत्नी से अपने बाल सुलझा देने को कहा। उसे पहले ही दिन माँ के दर्शन, उनसे दीक्षा-प्राप्ति और उनकी सेवा करने का चरम सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उस दिन शाम को जब हम लोग लौट रहे थे, तो माँ मेरी पत्नी तथा उसकी बुआ के साथ सीढ़ियों तक आयी थीं। हम सभी लोग जब शरत् महाराज को प्रणाम करके सड़क पर आये, तब भी देखा माँ ऊपर के बरामदे में खड़ी हैं और हम लोगों की ओर देख रही हैं।

बहुत दिनों बाद जब मैं जयरामबाटी गया, तो माँ को प्रणाम करते ही उन्होंने कहा, ''बेटा, यदि किसी दिन मंत्र भूल जाओ, तो बहू से पूछ लेना।'' मैंने आश्चर्यपूर्वक कहा, ''माँ, मंत्र भूल जाऊँगा, ऐसा भी होगा क्या?'' माँ ने कहा, ''नहीं, भूलोगे नहीं। तो भी यदि कभी मन में संशय आये, तो बहू से पूछ लेना।'' माँ के देहत्याग के लगभग दो वर्ष बाद मेरे मन में मंत्र के विषय में सहसा एक संशय उठा। तब माँ की बात याद आयी और पत्नी से पूछते ही संशय का समाधान भी हो गया। तब समझा – माँ जानती थीं कि भविष्य में मेरे मन में मंत्र के विषय में संशय आयेगा, परन्तु तब माँ इस धराधाम पर नहीं होंगी। उस समय संशय के निराकरण हेतु मुझे कहीं बाहर नहीं जाना होगा, इसकी व्यवस्था भी अन्तर्यामिनी माँ ने स्वयं कर दी थी।

उद्बोधन में माँ का दर्शन करने जाते समय मैं उनके लिये शुशनी, गिमा तथा अमरुल के साग की व्यवस्था करके उन्हें केले के पत्ते में बाँधकर ले जाता। साथ में घर की बनी हुई बड़ी तथा अचार भी ले जाता। माँ की सेविकाओं में से किसी-किसी ने उन बड़ियों को देखकर कहा था कि बड़ियाँ अधिक सफेद नहीं हैं। इस पर माँ ने कहा, ''भले ही न हों, पर ये गाँव के घर में बनी हुई चीजें हैं। इनका स्वाद ही अलग होता है। ठाकुर ऐसी बड़ियाँ ही पसन्द करते थे। इन्हें मैं ठाकुर के भोग के सुक्तो (रसेदार सब्जी) में डालने के लिये कहूँगी।'' सुनकर मेरी आँखें छलक आयीं। घर जाकर मैंने पत्नी को बताया कि उसके हाथ की बनी चीज न केवल माँ को पसन्द हैं, बल्कि माँ ने कहा है वह ठाकुर के भी रुचि की है। सुनकर वह भी रो पड़ी। बाद में जब-जब हमें इन बातों की याद आयी है या हम दोनों ने इस पर चर्चा की है, तब-तब माँ की कृपा की बात सोचकर दोनों के नेत्र गीले हो उठे हैं। जब भी माँ को प्रणाम करने गया हूँ, माँ ने पूछा है, ''बहू कैसी है? उसे साथ क्यों नहीं लाये?'' घर जाकर जब पत्नी को बताता, तो वह सुनकर रोती और कहती, ''देखा न, माँ मुझे भूली नहीं हैं।'' इसके बाद मैं दो-एक बार पत्नी को साथ लेकर बागबाजार में माँ का दर्शन करने गया था।

माँ के देहत्याग के बाद, मैं जब भी उद्बोधन जाता, तो शरत् महाराज को प्रणाम करते ही वे पहले की ही भाँति कहते, ''जाओ, ऊपर जाओ, माँ को प्रणाम कर आओ।'' प्रणाम करने जाते समय प्राणों में एक हूक-सी उठती। लेकिन जब माँ के कमरे के सामने जाकर उनके चित्र को प्रणाम करता, तो पुराने दिनों की याद आती और सचमुच ही ऐसा बोध होता मानो माँ पूर्व की ही भाँति वहाँ बैठी हैं। हमें छोड़ कर कहीं नहीं गयी हैं। जब भी जाता हूँ, वैसी ही अनुभूति होती है। माँ हैं, माँ थीं और माँ चिरकाल तक रहेंगी।

❑ ❑ ❑

स्वामी प्रेमानन्द के कुछ पत्र

(बाबूराम महाराज के नाम से सुपरिचित स्वामी प्रेमानन्दजी श्रीरामकृष्ण देव के एक प्रमुख शिष्य थे। वे बेलूड़ मठ के सर्वप्रथम व्यवस्थापक थे। वे मठ के मन्दिर में पूजा भी किया करते थे। बँगला भाषा में हुई उनकी धर्म-चर्चाओं को स्वामी ओंकारेश्वरानन्द लिपिबद्ध कर लेते थे और बाद में उन्हें ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित भी कराया था। 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लाभार्थ उसी ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

(८)

श्री गुरुदेव श्रीचरण भरोसा

काशीधाम, ४-१२-१६

स्नेहभाजन,

नर्मदातट पर तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक है, यह जानकर सुखी हुआ। जहाँ भी रहो, ठाकुर अपने भक्तों को देखेंगे और देख रहे हैं। तुमने जब लिखा है कि जबलपुर में प्लेग शुरू हो गया है, तो हमारे लिए वहाँ जाना उचित नहीं है। यदि श्री ठाकुर की इच्छा हुई, तो कभी वहाँ ले जायेंगे। श्रीयुत शैलेन की बात जानकर बड़ा आनन्दित हुआ। भगवान उसे शुद्ध तथा पवित्र भाव से पूर्ण रखें, मेरी यही प्रार्थना है। शैलेन को यदि सुविधा हो, तो उसे बड़े दिन की छुट्टियों में यहाँ आने के लिए कहना। सम्भवतः इसी दौरान श्रीयुत हरि महाराज अल्मोड़ा से यहाँ आयेंगे। उन्होंने लिखा है कि उनका स्वास्थ्य उतना ठीक नहीं है और फिर उन्हें पेचिस भी हुआ है।

ठाकुर चराचर में सर्वत्र व्याप्त हैं; जो जहाँ से भी उन्हें पुकारेगा, उसे प्रभु की अनन्त कृपा प्राप्त होगी। अशरीरी भगवान भक्त के लिए देह धारण करके अवतीर्ण होते हैं। वे हमारे लिए उदार भाव से असीम दुख-कष्ट सहन करते हैं – इसे मैंने प्रत्यक्ष देखा है और अनुभव किया है। उन्हें एक मन से अन्तर-ही-अन्तर में पुकारे जाओ, तभी शान्ति पाओगे। यह बता देना अच्छा होगा कि मिहिजाम के समान अति मत करना। कलिकाल में जीव अधिक भावभक्ति का वेग धारण नहीं कर सकता। समय से भोजन करना और नियमित रूप से निद्रा लेना। कभी कभी अच्छे साधुओं के साथ परिचय तथा वार्तालाप करना। तर्क करना अच्छा नहीं, इससे भक्ति की हानि होती है। व्यर्थ का तर्क सर्वत्र त्याज्य है।

अभिमान का त्याग करना बड़ा कठिन है। ध्यान रखना कि वह महावैरी निकट न आ सके। वह गिरगिट के समान है, इतने प्रकार के वेशों में वह मनुष्य के भीतर प्रवेश करता है कि उसका कोई अन्त नहीं। सावधान, खूब सावधान!

मेरा स्वास्थ्य यहाँ ठीक ही है और शिवानन्द महाराज स्वस्थ हैं। श्रीयुत महाराज (ब्रह्मानन्दजी) बंगलोर से कन्याकुमारी का दर्शन करने गये हैं। वे लोग भी अच्छी तरह हैं। यहाँ का सब कुशल है, बीच-बीच में सूचित करते रहना कि तुम कैसे हो। तुम मेरा स्नेहाशीर्वाद लेना और शैलेन आदि भक्तों को भी मेरा प्रेम तथा सादर सम्भाषण आदि सूचित करना। खूब महान् बनो, खूब उदार बनो। इति –

शुभाकांक्षी, प्रेमानन्द

(९)

श्री गुरुपद भरोसा

बेलूड़ मठ

स्नेहास्पद ध्रुव,

तुम्हारा पोस्टकार्ड मिला है। तो तुम पूर्वी बंगाल देख रहे हो! वह अंचल कैसा है, विस्तारपूर्वक लिखना।

प्राण खोलकर दिये जाओ। देखोगे कि एक अपूर्व शान्ति, एक अकल्पनीय आनन्द का अनुभव होगा।

तुम लोगों में तो उपार्जन करने की शक्ति नहीं है। (और उपार्जन करने से भी क्या अपने स्त्री-पुत्रों के सिवा अन्य किसी को देने की ज्यादा इच्छा होती?) कुछ अन्य लोगों द्वारा दिये हुए रुपयों से हाथ सार्थक कर लो। ऐसा मत सोचना कि हम लोग तुम्हें कार्य करने को कहकर पाताल में ठेल रहे हैं। भाव शुद्ध होना चाहिए। भाव में भ्रान्ति होने से ही गड़बड़ होती है। ठाकुर को पकड़ने को ही शुद्ध भाव कहते हैं। ठाकुर को खूँटी समझना। उसे छोड़ा कि गिरे। सर्वदा प्रतिक्षण उसी ओर ध्यान रखने का नाम साध्य-साधना है। यदि तुम अपनी इच्छा से ऋषीकेश जाओ, तो वह अभिमान होगा; और हमारी तथा संघ की इच्छा से कहीं भी जाओ, तो तुम्हें मुक्तिलाभ, भक्तिलाभ और ज्ञानलाभ होगा। इसमें यदि संशय आये, तो तुम साधकों को विपत्ति तथा पतन की आशंका है। सिद्धपुरुष अवतारतुल्य स्वामीजी के पत्र तथा पुस्तकें तुम लोगों ने बारम्बार पढ़ी है, परन्तु धारणा कहाँ हुई है?

ठाकुर के आश्रय में रहना क्या कम भाग्य की बात है! अपने को दे डालो, उस अविद्या के अहं भाव को उड़ा दो। उसे अब क्यों पाल-पोष कर रखना! प्रभु के आशीर्वाद से यंत्रवत हो जाओ।

वीरेन को मेरा प्रेम देना और तुम भी लेना। विभूति आदि को मेरा प्रेम तथा स्नेह-सम्भाषण आदि बताना। हम लोग अच्छी तरह हैं।

ठाकुर सामने हैं और पीछे हैं, भय नहीं, भय नहीं।

शुभाकांक्षी, प्रेमानन्द

(१०)
श्री गुरुपद भरोसा

श्रीरामकृष्ण मठ,
पो. बेलूड़ मठ, जिला - हावड़ा,
१४-५-१९१५

परम स्नेहास्पद,

बहुत दिनों से तुम्हें कोई पत्र नहीं लिखा। और लिखता भी क्या? पूछने का अवसर नहीं मिला कि कैसे हो? देख रहा हूँ कि दुनिया भर के लोग सुख की खोज में दौड़ रहे हैं और 'ऊँट के काँटा खाने के समान' केवल दुख-कष्टपाते हैं। जिसमें जितनी सुख की आशा है, भोग की तृष्णा है, प्रभुत्व की कामना है, उसे उतनी ही चिन्ता, दुख तथा निराशा होती है। जो लोग समझ-बूझकर (इस साढ़े तीन हाथ के शरीर में पड़कर उसे समझने का उपाय भी कहाँ है भाई !) खेलते हैं, वे ही थोड़ी शान्ति के साथ जा सकते हैं। परन्तु खेलने से ही गोरखधन्धे में पड़ना पड़ता है। श्री प्रभु का स्मरण ही इस गोरखधन्धे से छूटने का एकमात्र उपाय है। वे ही खूँटी हैं। जिसने एकमात्र इस खूँटी का ही आश्रय लिया है, वह इस घोर द्वन्द्वपूर्ण संसार में न डूबकर थोड़े सुख से जीवन काट सकता है। इस खूँटी को प्राणपण से पकड़ने को ही गीता में 'स्थितप्रज्ञ' और 'स्थितधी' कहा गया है। समझ लेना, निश्चित रूप से जान लेना कि जमींदार का वेश मात्र धारण करके तुम खेलने आये हो। पुत्र, पत्नी, बन्धु-बान्धव सबको गुड़ियाँ ही समझना। जैसे बच्चे गुड़ियों को लेकर खेलते हैं, खेल-खेल में उन्हें खाने को देते हैं, पोषाक पहनाते हैं, प्रेम करते हैं, अपना कहते हैं, वैसे ही तुम्हें भी करना होगा – यह सब गुड़ियों को लेकर ही है। खेलते-खेलते एक गुड़िया टूट जाने पर जैसे ज्यादा पीड़ा नहीं होती, वैसे ही इन सत्यवत् गुड़ियों से खेलते समय भी दृढ़ होना पड़ेगा। तुम प्रभु के सांगोपांग अन्तरंग अमुक बाबू के पुत्र हो, तुम्हें खूब कठोर बनना पड़ेगा, पक्का खिलाड़ी बनना होगा। तुम्हें आदर्श गृहस्थ बनना पड़ेगा; तुम्हें देखकर लोग सीखेंगे। तुम योनिकीट बद्ध जीव नहीं हो। अपनी सहधर्मिणी को भी यही सब सिखाना। भोग-विलास तुम्हारा उद्देश्य नहीं है। योग, भक्ति, ज्ञान, प्रेम – यही सब लेकर तुम लोग खेलने आये हो। अपना लक्ष्य मत भूलना, खूँटी को मत छोड़ना।

विक्रमपुर से ज्योंही लौटना हुआ, त्योंही शरत् भाई ने अमुक की बात बताई। घर-घर में यही चल रहा है – जहाँ भी जाता हूँ, जिधर भी देखता हूँ, पूरब और पश्चिम में – सर्वत्र वही शोक, रोग और निर्धनता का साम्राज्य है। अब बोलो किसके लिए रोऊँ? श्री प्रभु एक कहानी बताया करते थे – एक निर्धन ब्राह्मण के एक विद्वान् पुत्र था। दैवयोग से उसकी मृत्यु हो गयी। ब्राह्मणी रोते-रोते बेहाल थी। परन्तु पति बिल्कुल भी नहीं रो रहा था। यह देख ब्राह्मणी अपने पति से कहने लगी, "तुम पाषाण हो, तुम्हारी आँखों में एक बूँद भी जल नहीं है, कैसे आदमी हो तुम?" ब्राह्मण ने कहा, "देखो, पिछली रात मैंने स्वप्न में देखा कि मेरे सुन्दर-सुन्दर सात पुत्र हैं और सभी अच्छे विद्वान् हैं। जागने के बाद मैंने पाया कि मेरा एक पुत्र मर गया है। अब सोच रहा हूँ कि इस एक पुत्र के लिए रोऊँ या उन सात पुत्रों के लिए रोऊँ !"

इस संसार को स्वप्नवत समझना होगा। यहाँ खेलने के लिए हम एक एक प्रकार के वेश धारण करके आये हैं। सब बच्चों का खेल है। वृद्ध होने के बावजूद माँ के सामने हम सब नादान बच्चे हैं। हे प्रभु, खेल के कुहासे में कहीं हम मोहित न हो जायँ। पकड़े रहिए, पकड़े रहिए – आपसे सर्वदा यही प्रार्थना है।

श्रीठाकुर की इच्छा से हम लोग राढ़ीखाल ग्राम में दस-बारह दिन अच्छी तरह खेल आये। उसी ग्राम में डॉ. जगदीशचन्द्र बोस का घर है। मैं बोस के घर में ठहरा था और उनके छोटे भाई ने हमें बड़े यत्नपूर्वक रखा था। वहाँ प्रभु की शक्ति का खेल देखकर मैं दंग रह गया हूँ। घर-घर में ठाकुर की पूजा-सेवा चल रही है। आबाल-वृद्ध-वनिता यहाँ तक कि मुसलमान तक ठाकुर के भाव में विभोर हैं। तुम देखकर निश्चय ही अवाक् रह जाते। प्रभु के नाम पर उनासी वर्ष का वृद्ध, दो वर्ष का छोटा बालक और मुसलमान – सबका मिलकर आनन्दपूर्वक नृत्य करना ! वह एक अपूर्व ही दृश्य था ! भाव का सुन्दर खेल था ! जिस दिन लौटना था, उस दिन पूरे गाँव के लोग क्या ही रुदन कर रहे थे ! वह धारा रुकती ही न थी...। देखकर तुम विस्मित रह जाते। मुझे तो व्रज की और नवद्वीप की बातें याद हो आयी थीं। यह सब लिखते-लिखते मुझे रोमांच हो रहा है। ठाकुर की लीला देखकर मैं धन्य हो गया हूँ, पवित्र हो गया हूँ ! ऐसा मत समझ बैठना कि इसमें मेरा कोई बड़ाई है। मैं तो तुम्हारा वही मूर्ख ... हूँ। अरे स्वामीजी कहा करते थे, "तुम लोगों को कुछ करना नहीं होगा। प्रभु ही सब कर रहे हैं और करेंगे। तुम लोग केवल देखे जाओ।" मैं तो केवल देखकर ही कृतार्थ हो रहा हूँ। जाता कौन है? केवल धर-पकड़कर ले जाते हैं। फिर टंगैल ले जाना चाहते हैं। मैंने कह दिया है कि जैसी प्रभु की इच्छा।

शुकुल महाशय (स्वामी आत्मानन्द), केदार बाबा और कृष्णलाल आदि को मेरा प्रेम तथा 'नमो नारायणाय' बताना। कृष्णलाल से कहना की जमीन अभी पचास बाँस पानी में पड़ा है। सारदा दासी के वकील नरेन मित्र का देहान्त हो गया है। आदमी अच्छा था। यह क्या अच्छे लोगों के रहने

की जगह है?... तुम लोग मेरा प्रेम तथा स्नेह-सम्भाषण आदि जानना। यहाँ सभी अच्छी तरह हैं। इति –

शुभाकांक्षी,
प्रेमानन्द

(११)

श्री रामकृष्णो जयति

श्रीरामकृष्ण मठ
पो. बेलूड़, जिला - हावड़ा
२७-९-१९१५

स्नेहास्पद,

तुम्हारा पत्र मिला। जिस प्रकार ठाकुर का स्मरण-मनन कर रहे हो, उसी प्रकार करते रहो, ठाकुर सब ठीक कर देंगे। इस संसार रूपी भँवर में श्रीठाकुर ही एकमात्र खूँटी हैं। खूँटी को दृढ़ता के साथ पकड़े रहना। ऐसा होने पर भय की कोई बात नहीं है। ठाकुर कहा करते थे कि भक्त की बुद्धि कूटस्थ होनी चाहिए। लोहार की निहाई के समान संसार के दुख-कष्ट और आघात निरन्तर उसके ऊपर पड़ता रहे, तो भी वह भगवान को पकड़कर धीर-स्थिर कदमों से उनकी ओर अग्रसर होता रहता है।

स्वामी तुरीयानन्द इस समय चिल्कापेट हाउस, अल्मोड़ा में हैं और सकुशल हैं।

तुम्हारी जब इच्छा होगी, तभी यहाँ आ जाना, तुम लोग तो हमारे लिए पराये नहीं हो। मैं पुरीधाम गया था, कुछ दिनों पूर्व यहाँ आया हूँ। तुम्हारे भाई के साथ मेरी भेंट नहीं हुई, मिलते ही उसे बताऊँगा। चाहे हजार बार कहो और करो, परन्तु तुम तो जानते ही हो कि हर व्यक्ति अपने-अपने विचारों के अनुसार ही चलता है। ठीक समय आये बिना कोई भी अपना भाव नहीं छोड़ता। तुम उधर ज्यादा ध्यान न देकर, काय-मनो-वाक्य से भगवान को पुकारते रहो, वे ही सब ठीक कर देंगे। मठ में इस समय सभी एक तरह से ठीक ही हैं। तुम लोग मेरा प्रेम तथा आशीर्वाद ग्रहण करना। इति –

शुभाकांक्षी, प्रेमानन्द

(१२)

श्री गुरुचरण भरोसा

पो. बेलूड़, हावड़ा
२५-११-१९१४

स्नेहास्पद,

तुम्हारा पत्र पाकर सारे समाचारों से अवगत हुआ। मैं वाराणसी गया था और वहाँ से प्रयाग होते हुए श्री ब्रह्मानन्द स्वामी के साथ यहाँ आया हूँ, इस कारण तुम्हारे पत्र का उत्तर देने में विलम्ब हुआ।

तुमने ठीक ही लिखा है। जब तक सत् लोगों के साथ निवास किया जाता है, तब तक मन स्थिर और संयत रहता है, पर उसके बाद ज्यों-का-त्यों हो जाता है। मन ठीक स्प्रिंग् की गद्दी के समान है। जब तक बैठे रहो, तब तक दबा रहता है, परन्तु छोड़ते ही ऊपर उठ जाता है। इसीलिए जहाँ तक सम्भव हो उनका नाम-कीर्तन, ध्यान और जप करना चाहिए। सद्ग्रन्थों का पाठ और साथ ही सच्चर्चा की भी आवश्यकता है। जो कुछ पढ़ा जाय, उसकी धारणा करना जरूरी है। प्रत्येक कार्य में सत्-असत् का विचार करना पड़ता है। इसी प्रकार करते-करते मन नरम हो जाता है; तब फिर वह सहज ही चंचल नहीं हो उठता। उनका स्मरण-मनन ही मन की चंचलता को दूर करने की एकमात्र महौषधि है।

यहाँ एक तरह से सब मंगल है। सर्वदा स्वास्थ्य की ओर ध्यान रखना। हमारा आन्तरिक प्रेम तथा स्नेहपूर्ण आशीर्वाद आदि लेना।

काशीधाम में हरि महाराज हैं। उनके साथ तुम्हारे विषय में बातें हुई थीं। उनका स्वास्थ्य उतना अच्छा नहीं है, नहीं तो हमारे साथ आ जाते। हरि महाराज से पत्र-व्यवहार करते रहना। प्रभु के चरणों में विश्वास और 'हम उनके दास तथा सन्तान हैं' – ऐसा सोचकर मन में खूब बल लाना। चाहिए – "जो व्यक्ति काली का भक्त है, वह जीवनमुक्त नित्यानन्दमय है।" "चिन्तन करने से भाव का उदय होता है।" यही सब विचार करना। दूसरों की तो बात ही क्या, माँ के नाम से यम तक भाग जायगा। जय हो, प्रभु की जय हो ! इति –

शुभाकांक्षी, प्रेमानन्द

❖ (क्रमशः) ❖
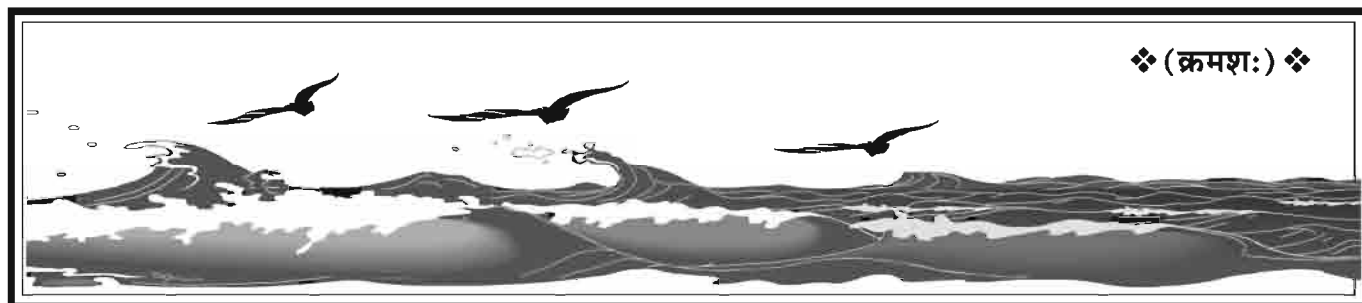
स्वामीजी का गाजीपुर-प्रवास (४)

स्वामी विदेहात्मानन्द

कुछ अंग्रेजों से परिचय तथा चर्चाएँ

गाजीपुर नगर में रहते समय स्वामीजी की कई अँग्रेजों से भेंट-मुलाकात हुई थी। गगन बाबू ने अफीम विभाग के उच्च अधिकारी रॉस साहब से उनका परिचय करा दिया था। साहब ने उत्सुकतापूर्वक उनसे पूछ-पूछकर हिन्दूधर्म के विषय में बहुत-सी बातें जान ली थीं। उनके अनुरोध पर स्वामीजी ने होली के बारे में एक लेख भी लिख दिया था। स्वामीजी की विद्वत्ता पर मुग्ध होकर उन्होंने उनका परिचय स्थानीय जिला-जज पेनिंग्टन साहब से भी करा दिया। स्वामीजी से हिन्दूधर्म की व्याख्या सुनकर वे इतने सन्तुष्ट हुए कि उन्होंने उनसे इंग्लैण्ड जाकर इन बातों का प्रचार करने का अनुरोध किया। कर्नल रिबेट कार्नाक नामक एक अन्य अँग्रेज सज्जन के साथ भी स्वामीजी की वेदान्त पर लम्बी चर्चा हुई। वस्तुत: उन्हीं दिनों स्वामीजी का आचार्य-रूप मानो प्रस्फुटित होने लगा था और वे अति उच्च आध्यात्मिक भाव में स्थिर होकर लोगों के हृदय-मन को प्रभावित तथा आलोकित करने लगे थे।

महेन्द्रनाथ दत्त के अनुसार, स्वामीजी के साथ "कभी वे ईसाई-धर्म, कभी वेदान्त-शास्त्र, कभी यूरोपीय दर्शन और कभी इतिहास पर भी चर्चा किया करते थे।"[२४]

कदाचित् फरवरी के शुरू में, नगर में रहते हुए ही अपने १५ वें पत्र में स्वामीजी ने गंगाधर महाराज को लिखा –

प्राणाधिकेषु, कल तुम्हारा पत्र पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई। यहाँ पवहारीजी नाम के जो अद्भुत योगी और भक्त हैं, इस समय मैं उन्हीं के पास ठहरा हुआ हूँ। ये अपने कमरे से बाहर नहीं आते। द्वार के पीछे से ही बातचीत करते हैं। कमरे के अन्दर एक गुफा है, उसी में वे रहते हैं। सुनने में आता है कि वे महीनों समाधिस्थ रहते हैं। इनकी तितिक्षा अद्भुत है। हमारा बंगाल भक्ति और ज्ञान का प्रदेश है; योग की चर्चा वहाँ प्राय: नहीं के बराबर ही होती है। जो कुछ है, वह केवल जोर से साँस खींचने आदि का हठयोग ही है, वह तो केवल एक तरह का व्यायाम है। इसीलिए मैं इन अद्भुत राजयोगी के पास ठहरा हूँ। उन्होंने कुछ आशा भी दिलायी है। यहाँ एक सज्जन के एक छोटे-से बगीचे में एक सुन्दर बँगला है। मैं उसी बँगले में रहूँगा। वह बगीचा बाबाजी के निवास-स्थान के अति निकट है। वहाँ बाबाजी के एक बड़े भाई रहकर साधुओं की सेवा करते रहते हैं। मैं वहीं भिक्षा लिया करूँगा। यह लीला कहाँ तक चलती है, यह देखने के लिए मैंने पहाड़ों पर चढ़ने का अपना इरादा अभी स्थगित कर दिया है। दो महीनों से मुझे कमर में वातपीड़ा हो रही है, जिसके कारण पहाड़ों पर चढ़ना असम्भव होगा। देखें, बाबाजी से क्या मिलता है!

मेरा मूलमंत्र है – जहाँ, जो कुछ भी अच्छा मिलेगा, उसे ग्रहण करूँगा। इस कारण मेरे कई गुरुभाई सोचते हैं कि मेरी गुरुभक्ति कम हो जायगी। इन्हें मैं पागलों तथा कट्टरपन्थियों के विचार समझता हूँ, क्योंकि जितने गुरु हैं, वे सब एक उन्हीं जगद्गुरु के अंश तथा आभास-स्वरूप हैं।

यदि तुम गाजीपुर आओ, तो गोराबाजार में सतीशबाबू या गगनबाबू के पास आते ही मेरे विषय में जानकारी मिल जायगी। या फिर पवहारी बाबा यहाँ इतने प्रसिद्ध व्यक्ति हैं कि उनका नाम लेते ही कोई भी बता देगा और उनके आश्रम में जाकर परमहंसजी के बारे में पूछते ही कोई भी बता देगा। लोग तुम्हें मेरा स्थान बता देंगे। मुगलसराय के पास दिलदार-नगर स्टेशन पर उतरकर तुम्हें ब्रांच रेलवे द्वारा तारीघाट तक जाना होगा। तारीघाट से गंगा पार करके गाजीपुर जाते हैं।

अभी तो मैं कुछ दिन गाजीपुर ठहरूँगा; देखूँ बाबाजी क्या करते हैं! तुम यदि आओ, तो हम दोनों साथ-साथ बँगले में कुछ दिन रहेंगे और फिर पहाड़ों पर या अन्यत्र कहीं चलेंगे। वराहनगर में किसी को इस बात की सूचना न देना कि मैं गाजीपुर में ठहरा हूँ। मेरा आशीर्वाद लेना –

सतत मंगलाकांक्षी, नरेन्द्र

एक अलौकिक अनुभूति

इसके बाद कदाचित् फरवरी के प्रारम्भ में ही स्वामीजी पवहारी बाबा से मिलने की सुविधा की दृष्टि से नगर से किंचित् दूर और बाबाजी के आश्रम के पास ही स्थित गगनबाबू के उद्यान-भवन में रहने चले गये थे। कई लेखकों ने इस बात पर विचार किया है कि स्वामीजी उनसे वस्तुत: क्या सीखना चाहते थे! उन दिनों वे सोच रहे थे कि गुरुदेव भगवान श्रीरामकृष्ण उन्हें सम्पूर्ण जगत् में धार्मिक नव-जागरण लाने का इतना महान् उत्तरदायित्व सौंप गये हैं, पर इस रोग आदि से परिपूर्ण शरीर के द्वारा वह बृहत् ऐतिहासिक कार्य भला कैसे सम्पन्न हो सकेगा! इसीलिये उनका विचार था कि बाबाजी से शरीर को स्वस्थ तथा सुदृढ़ बनाने की विद्या सीख लेना उपयोगी होगा, क्योंकि इसके बाद वे निश्चिन्त भाव से

---

२४. विश्वपथिक विवेकानन्द, उद्बोधन कार्यालय, पृ. १८२

२५. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १, पृ. ३६६-६७ (इस पत्र में दिनांक की जगह मार्च लिखा है, पर जैसा कि अगले पत्र से ज्ञात होता है कि वे २२ फरवरी को ही पवहारी बाबा के स्थान से नगर लौट आये थे, अत: यह पत्र फरवरी के प्रारम्भ का होना चाहिये।)

किसी निर्जन स्थान में जाकर ध्यान-साधना भी कर सकेंगे और समय आने पर दिग्दिगन्त में धर्मप्रचार का बीड़ा भी उठा सकेंगे। इसीलिये वे गाजीपुर में रहकर हिमालय में साधना हेतु कोई उपयुक्त स्थान ढूँढ़ने के लिये तिब्बत यात्रा के अनुभवी और वर्तमान में श्रीनगर में निवास कर रहे अपने गुरुभाई स्वामी अखण्डानन्द से पत्र-व्यवहार करते हुए योजनाएँ भी बना रहे थे। दूसरी ओर, जैसा कि उन्होंने अखण्डानन्दजी को लिखा है – वे बाबाजी से राजयोग के व्यावहारिक स्वरूप की शिक्षा ग्रहण करना चाहते थे।

इस अद्भुत घटना का विवरण स्वयं स्वामीजी के शब्दों में ही प्राप्त होता है, उन्होंने अपने गृही शिष्य श्री शरत्चन्द्र चक्रवर्ती के साथ बातचीत के दौरान एक बार बताया था –

"श्रीरामकृष्ण के देहत्याग के बाद मैंने कुछ दिन गाजीपुर में पवहारी बाबा का संग किया था। तब मैं पवहारी बाबा के आश्रम के पास के एक बगीचे में रहता था। लोग उसे भूत का बगीचा कहते थे, पर मुझे भय आदि नहीं लगता था। तुम तो जानते ही हो कि मैं ब्रह्मदैत्य, भूत-प्रेत आदि से नहीं डरता। उस बगीचे में नीबू के अनेक पेड़ थे और वे खूब फलते भी थे। मुझे उन दिनों पेट की सख्त बीमारी थी और तिस पर वहाँ भिक्षा में भी रोटी के सिवा अन्य कुछ नहीं मिलता था, इसलिए हाजमे के लिए खूब नीबू का रस पीता था। पवहारी बाबा के पास आना-जाना बड़ा अच्छा लगता था। वे भी मुझे बड़ा स्नेह करने लगे थे। एक दिन मन में आया – श्रीरामकृष्ण के पास इतने दिन रहकर भी मैंने इस रुग्ण शरीर को दृढ़ बनाने का कोई उपाय तो नहीं सीखा। सुना है, पवहारी बाबा हठयोग जानते हैं। अब उनसे हठयोग की क्रिया सीखकर शरीर को सुदृढ़ बनाने के लिए कुछ दिन साधना करूँगा। तुम जानते ही हो कि मैं बड़ा हठी हूँ – जो मन में आ जाय, उसे करूँगा ही !

"जिस दिन मैंने पवहारी बाबा से दीक्षा लेने का इरादा किया, उसकी पहली रात एक खटिया पर लेटकर पड़ा-पड़ा मैं कुछ सोच रहा था। तभी देखता हूँ – श्रीरामकृष्ण मेरी दाहिनी ओर खड़े होकर एक दृष्टि से मेरी ओर टकटकी लगाये खड़े हैं; मानो वे विशेष दुखी हो रहे हैं। जब मैंने उनके चरणों में सर्वस्व समर्पण कर दिया है, तो फिर किसी दूसरे को गुरु बनाऊँ? – यह बात मन में आते ही मैं लज्जित होकर उनकी ओर ताकता रह गया। इसी प्रकार शायद दो-तीन घण्टे बीत गये। परन्तु उस समय मेरे मुख से कोई भी शब्द नहीं निकला। उसके बाद वे सहसा अन्तर्धान हो गये। श्रीरामकृष्ण को देखकर न जाने कैसा लगने लगा ! इसीलिए उस दिन दीक्षा लेने का संकल्प स्थगित रखना पड़ा। दो-एक दिन बाद फिर पवहारी बाबा से मंत्र लेने का संकल्प उठा। उस दिन भी रात को – ठीक पहले दिन की ही तरह श्रीरामकृष्ण फिर प्रकट हुए। इस प्रकार लगातार इक्कीस दिनों तक उनका दर्शन पाने के बाद मैंने दीक्षा लेने का संकल्प एकदम त्याग दिया। सोचा – जब भी मंत्र लेने का विचार करता हूँ, तभी इस प्रकार दर्शन होता है, तो मंत्र लेने पर तो इष्ट के बदले अनिष्ट ही हो जायगा।"[२६]

काफी काल बाद स्वामीजी ने अपनी 'गाता हूँ मैं गीत तुम्हें ही सुनाने को' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियों में भी इस घटना का किंचित् आभास दिया है, जो इस प्रकार है –

शिशुवत् खेला करता हूँ मैं
(प्रतिपल ही, हे नाथ) तुम्हीं से।
और क्रुद्ध हो कभी, दूर
जाने को भी प्रस्तुत था, तुमसे ।।

सिरहाने तुम खड़े हुए दिख पड़े,
लिये नीरव मुखमण्डल।
लगी मुझी पर दृष्टि तुम्हारी,
आँखें भरी हुईं थी छल-छल ।।

सहसा मैंने पीछे मुड़ कर,
पकड़ लिये पद-कमल तुम्हारे।
क्षमादान पर नहीं माँगता,
रोषरहित तव हृदय, बिसारे ।।

तव सन्तति हूँ, इसीलिए तुम
सहते हो मम मूढ़ाचार।
तुम ही मेरे नाथ, तुम्हीं हो
प्राणसखा - जीवन-आधार ।। ...

कभी देखता मैं ही 'तुम' हूँ,
और कभी तुम ही 'मैं' हो।
वाणी-रूप कण्ठ में मेरे,
चिर विराजते तुम ही हो ।। ...

दोनों का ही दास, सारदा-सह
चरणों में बलि जाता।
मुड़कर जब भी पीछे देखूँ,
हँसता हुआ तुम्हें पाता ।।[२७]

गाजीपुर से विदा लेने का विचार

ऐसा प्रतीत होता है कि उपरोक्त घटना २२ फरवरी के पूर्व ही हो गयी थी, क्योंकि २५ फरवरी (१८९०) गाजीपुर से ही प्रमदा बाबू के नाम अपने १६वें पत्र में वे लिखते हैं – "कमर के दर्द से बहुत कष्ट हो रहा है, अन्यथा मैं पहले ही आपके यहाँ आने की चेष्टा करता। मन को अब यहाँ शान्ति नहीं मिलती। बाबाजी के स्थान से आये हुए तीन दिन हुए,

२६. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ६, पृ. २११-१२; **२७.** इस कविता के दूसरे अनुवाद हेतु द्रष्टव्य – वही, खण्ड ९, पृ. ३२६

परन्तु वे कृपापूर्वक प्राय: नित्य ही मेरे विषय में पूछताछ करते हैं। ज्योंही कमर का दर्द कुछ अच्छा होगा, मैं बाबाजी से विदा माँगूँगा। आप मेरे अनन्त प्रणाम स्वीकार करें।''[२८]

उपरोक्त पत्र से ज्ञात होता है कि तीन दिनों पूर्व वे फिर नगर में आ चुके थे और अगले कुछ पत्रों से स्पष्ट होता है कि वे वहाँ से विदा लेकर वाराणसी जाने का विचार कर रहे थे।

स्वामीजी की प्रथम कुमारी-पूजा

ऐसा लगता है कि कुछ दिन सतीशचन्द्र मुखोपाध्याय के घर बिताने के बाद अथवा पवहारी बाबा के आश्रम से लौटने के बाद स्वामीजी रायबहादुर गगनचन्द्र राय के घर में रहने चले गये थे। वहीं हुई एक अन्य महत्त्वपूर्ण घटना की भी जानकारी मिलती है। गगनबाबू की ८-९ वर्ष की मनिका नाम की एक कन्या थी। एक दिन स्वामीजी ने अपने निवास के पास वाले बगीचे में उसे खेलते देखा और वहीं जाकर उन्होंने कुछ फूल चुने और उसे खड़ा करके उसकी देवी-भाव से कुमारी-पूजा की। बाद में उस कन्या का विवाह डॉ. ज्ञानेन्द्रनाथ चक्रवर्ती से हुआ, जिन्होंने शिकागो में आयोजित धर्म-महासभा में थियॉसाफी का प्रतिनिधित्व किया था। बाद में वे लखनऊ विश्वविद्यालय के कुलपति भी हुए। परवर्ती काल में मनिका एक विख्यात साधिका के रूप में प्रसिद्ध हुई और 'यशोदा माँ' के नाम से सुपरिचित हुई और अल्मोड़ा के निकट उन्होंने 'उत्तर वृन्दावन नाम से एक आश्रम की स्थापना भी की।[२९] स्मरणीय है कि स्वामीजी ने अपने जीवन में ४-५ बार किसी कुमारी कन्या की देवी-भाव से पूजा की थी और यह ऐसी पूजा का पहला अवसर था।

प्रमदाबाबू के ही नाम ३ मार्च को अपने १७वें पत्र में स्वामीजी लिखते हैं –

''अभी-अभी आपका कृपापत्र मिला। शायद आप नहीं जानते कि मैं कठोर वेदान्ती विचारों का होता हुआ भी, बड़ा ही कोमल-हृदय हूँ और इसीलिये मेरा सर्वनाश होता है। जरा-सी घटना भी मुझे विचलित कर देती है, क्योंकि मैं कितना ही स्वार्थपरायण रहने की चेष्टा क्यों न करूँ, दूसरे की लाभ-हानि देखते ही मेरा सारा प्रयत्न व्यर्थ हो जाता है। इस बार मैं बड़ी कठोरतापूर्वक अपने लिये कुछ करने को बाहर निकला था, पर एक गुरुभाई की बीमारी की सूचना पाते ही मुझे इलाहाबाद दौड़ना पड़ा और अब ऋषीकेश से समाचार मिला है, अत: मन वहीं लगा है। मैंने शरत् को तार दिया है, पर अभी तक कोई उत्तर नहीं आया। वह ऐसी जगह है कि जहाँ से तार आने में भी इतना समय लगता है!

कमर की पीड़ा कैसे भी ठीक नहीं हो रही है, बड़ा कष्ट हो रहा है। कई दिनों से मैं पवहारीजी से मिलने नहीं जा सका, पर उनकी बड़ी कृपा है कि वे हर रोज आदमी भेजकर मेरी खबर लेते हैं। परन्तु अब देखता हूँ – 'उल्टा समझलीं राम' – पहले मैं उनके द्वार का भिखारी था, पर अब वे ही मुझसे कुछ सीखना चाहते हैं! लगता है कि ये सन्त अभी पूर्ण सिद्धि की अवस्था में नहीं पहुँचे हैं, क्योंकि ये बहुत-से कर्म, व्रत, अनुष्ठान करते हैं और गुप्त भाव तो बहुत ज्यादा है। यह निश्चित है कि समुद्र पूर्ण होने पर कभी तट से आबद्ध नहीं रह सकता। अत: अब इन साधु को व्यर्थ कष्ट देने से कोई लाभ नहीं। शीघ्र ही विदा लेकर चल पड़ूँगा।

''विधाता का दिया हुआ मेरा कोमल स्वभाव ही मेरे नाश का कारण बन गया है। बाबाजी तो मुझे जाने ही नहीं देते और गगनबाबू (इन्हें शायद आप जानते होंगे, वे एक धार्मिक, साधु और सहृदय व्यक्ति हैं) भी मुझे नहीं छोड़ते। यदि तार के उत्तर से मेरा (ऋषीकेश) जाना आवश्यक हुआ, तो जाऊँगा, अन्यथा कुछ दिनों में आपके पास वाराणसी पहुँचूँगा। मैं आपको सहज छोड़नेवाला नहीं हूँ – आपको जरूर ऋषीकेश ले जाऊँगा। कोई बहाना नहीं चलेगा। आप वहाँ कैसे शौच आदि की बात कह रहे हैं? पहाड़ पर क्या जल या जगह की कमी है? कलिकाल के तीर्थों और संन्यासियों को क्या आप नहीं जानते? रुपये खर्च करने पर सत्रवाले देवमूर्ति को भी हटाकर कमरा खाली कर देते हैं, जगह की तो बात ही क्या! इसलिए चिन्ता की कोई बात नहीं। गरमी तो वहाँ भी पड़ने लगी होगी, पर वाराणसी जैसी नहीं, वह तो ठीक ही है। वहाँ रातें ठण्डी होने के कारण अच्छी नींद तो आयगी।

''आप इतना डरते क्यों हैं? मैं गारंटी देता हूँ कि आप सकुशल घर लौटेंगे और आपको कोई कष्ट नहीं होगा। मेरा अनुभव है कि अंग्रेजी राज में कष्ट फकीरों को है, गृहस्थ को जरा भी नहीं। क्या मैं यों ही कहता हूँ कि हम दोनों के बीच पूर्वजन्म का कुछ सम्बन्ध है! देखिये न, आपके एक पत्र से ही मेरे सारे संकल्प हवा हो गये और मैं सब छोड़-छाड़कर वाराणसी की ओर रवाना हो रहा हूँ।

गंगाधर को मैंने फिर लिखा है और उससे मठ में लौट आने की कहा है। वह आयेगा, तो आपसे मिलेगा। वाराणसी की जलवायु अब कैसी है? यहाँ ठहरने से मैं मलेरिया से मुक्त हो गया हूँ। केवल कमर की पीड़ा से तंग हूँ। दर्द दिनरात होता रहता है और मुझे जलाता रहता है। कह नहीं सकता कि मैं पहाड़ पर कैसे चढ़ूँगा! मैंने बाबाजी में अद्भुत तितिक्षा देखी है और इसीलिए मैं उनकी कुछ कृपा का भिक्षुक हूँ, पर वे कुछ देना नहीं चाहते, केवल मुझसे ही ले रहे हैं। इसलिए मैं भी चला।

दास, नरेन्द्र

---

२८. वही, खण्ड १, पृ. ३६३

२९. उद्बोधन (बँगला पत्रिका), आश्विन १४०५, पृ. ५७६-७७; उद्बोधन (बँगला पत्रिका), आश्विन १४१४, पृ. ७९४; और Yogi Sri Krishnaprem, Bhartiya Vidya Bhavan, Pp. X-XI

पुनश्च – मैं अब किसी बड़े आदमी के पास न जाऊँगा।

रे मन, तू अपने आपमें ही रह,
अब किसी दूसरे के घर मत जा,
तू जो कुछ भी चाहेगा,
वह बैठे हुए ही मिल जायगा,
तू अपने अन्तःपुर में ही उसे खोज तो सही !
वह पारस पत्थर परम धन है,
तुम उससे जो भी चाहोगे, दे सकता है ।
चिन्तामणि की नाट्यशाला के द्वार पर
कितने ही मणि बिखरे पड़े हैं ।।

अत: अब मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि श्रीरामकृष्ण की बराबरी का दूसरा कोई नहीं। वैसी अपूर्व सिद्धि, वैसी अपूर्व अहेतुक दया, जन्म-मरण से जकड़े हुए जीव के प्रति वैसी प्रगाढ़ सहानुभूति इस संसार में और कहाँ? या तो वे अपने कथनानुसार अवतार हैं अथवा वेदान्त-दर्शन में जिन्हें '**लोकहिताय मुक्तोऽपि शरीरग्रहणकारी**' नित्यसिद्ध महापुरुष कहा गया है, वे हैं, **निश्चित निश्चित इति मे मतिः** । ऐसे महापुरुष की उपासना के विषय में पातंजल-सूत्र में '**महापुरुष-प्रणिधानाद्वा**' कहा गया है ।

अपने जीवनकाल में उन्होंने मेरी कोई भी प्रार्थना नहीं ठुकरायी, मेरे लाखों अपराध क्षमा किये । मेरे माता-पिता में भी मेरे लिए इतना प्रेम न था । इसमें कोई कवित्व नहीं, अतिशयोक्ति नहीं, बल्कि यह एक ठोस सत्य है, जिसे उनका प्रत्येक शिष्य जानता है । बड़े-बड़े संकट और प्रलोभन के समय मैंने करुणा के साथ रो-रोकर प्रार्थना की है, 'भगवान्, रक्षा कर'; और किसी ने भी उत्तर नहीं दिया, किन्तु इस अद्भुत महापुरुष या अवतार या जो कुछ समझिये, उसने अपने अन्तर्यामित्व गुण से मेरी सारी वेदनाओं को जानकर, स्वयं आग्रहपूर्वक बुलाकर उन सबका निराकरण किया । यदि आत्मा अविनाशी है और यदि वे इस समय हैं, तो मैं बारम्बार प्रार्थना करता हूँ, "हे अपार दयानिधे, हे ममैक शरणदाता रामकृष्ण भगवान्, कृपा करके हमारे इस नरश्रेष्ठ परम बन्धु की सारी मनोवांछा पूर्ण कीजिये ।" वे – जिन्हें मैंने इस जगत् में अहेतुकी दया का एकमात्र महासागर पाया है, आप पर मंगल की वर्षा करें । शान्तिः शान्तिः शान्तिः । – दास, नरेन्द्र । पुनश्च – पत्र पढ़ते ही उत्तर दीजियेगा । – नरेन्द्र[३०]

उपरोक्त पत्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि अब वे इस बात को लेकर आश्वस्त हो चुके थे कि शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से उनकी जीवन तथा कार्य के लिये जो कुछ आवश्यक था, वह सब उनके गुरुदेव श्रीरामकृष्ण ने कर दिया है और यथावश्यक करते रहेंगे । अत: अब वे यह स्थान छोड़कर आगे बढ़ना चाहते थे । परन्तु विभिन्न कारणों से मार्च का वह पूरा महीना ही उन्हें वहीं बिताना पड़ा ।

८ मार्च, १८९० को अपने १८वें पत्र में वे प्रमदा बाबू को लिखते हैं, "आपका पत्र मिला, अत: मैं भी प्रयाग के लिए प्रस्थान कर रहा हूँ । आप प्रयाग में कहाँ ठहरेंगे, कृपया लिखें । इति । – आपका, नरेन्द्र । पुनश्च – अगर अभेदानन्द दो-एक दिन में आपके यहाँ पहुँचे, तो आप उसे कलकत्ता के लिए रवाना कर देंगे । मैं इसके लिए आभारी होऊँगा । – नरेन्द्र[३१]

मठ में पूजा हेतु गुलाब भेजना

इसी बीच गाजीपुर के खेतों में गुलाब के फूल खिल उठे थे । स्वामीजी ने वराहनगर मठ में ठाकुर को सजाने तथा उनकी पूजा हेतु एक टोकरी फूल भेजने का विचार किया । परन्तु उनके कलकत्ते जाने और उनका चालान लेने में देरी होने की हालत में उनके बरबाद होने की सम्भावना थी, अत: उन्होंने १० मार्च, १८९० को गाजीपुर से अपने १९वें पत्र में स्वामी प्रेमानन्दजी के बड़े भाई तुलसीराम घोष को लिखा –

"प्रिय तुलसीराम, दो-चार दिनों के भीतर एक टोकरी गुलाब के फूल तुम्हारे चित्पुर के पते पर भेजे जायेंगे । तुम कृपा करके उन्हें तत्काल शशि (स्वामी रामकृष्णानन्द, वराहनगर मठ) के पास भेज देना । उन्हें बलराम बोस के नाम से नहीं भेज रहा हूँ, क्योंकि उनके आलस्य करने से फूलों की मृत्यु निश्चित है । मुझे लगता है कि उन्हें तुम्हारे चित्पुर के कोयला-डिपो में भेजने से तुम उन्हें तत्काल प्राप्त कर लोगे । यदि इसमें कोई बाधा हो, तो मुझे तुरन्त लिखो । बाबूराम (स्वामी प्रेमानन्द) यहीं है । दो-एक दिनों के भीतर वह इलाहाबाद जायेगा । मैं यहाँ से शीघ्र ही प्रस्थान करूँगा । सम्भवत: बरेली जाऊँगा और वहाँ से और भी ऊपर (पहाड़ों में जाऊँगा) । बलराम बाबू क्या कर रहे हैं? तुम सभी लोगों को मैं अपना प्रणाम ज्ञापित करता हूँ । – तुम्हारा नरेन्द्र[३२]

१२ मार्च, १८९० को गुलाब के फूलों की टोकरी भेजने के बाद ही अपने २०वें पत्र में बलराम बोस को लिखा –

रसीद पाते ही आदमी भेजकर फेयरली प्लेस के रेलवे गोदाम से गुलाब के फूल मँगवाकर शशि को भेज दीजियेगा । मँगवाने या भिजवाने में विलम्ब न हो । बाबूराम शीघ्र ही इलाहाबाद जा रहा है – मैं एक अन्य जगह जा रहा हूँ । पुनश्च – यह निश्चित जानियेगा कि देरी होने से सारे फूल खराब हो जायेंगे । – नरेन्द्र[३३]

❖ (क्रमशः) ❖

---

३०. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १, पृ. ३६४-६६

३१. वही, पृ. ३६८-६९; **३२.** The Complete Works., खण्ड ९, पृ. ६; बँगला पत्रावली, पृ. ४२ (वस्तुत: यह १० मार्च, १८९० का होना चाहिये, क्योंकि अप्रैल के शुरू में ही वे गाजीपुर से विदा ले चुके थे। **३३.** The Complete Works., खण्ड ९, पृ. ५; बँगला पत्रावली, पृ. ३७

स्वामी शुभानन्द (२)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। इसे बँगला ग्रन्थ 'स्वामीजीर पदप्रान्ते' से लिया गया है। हिन्दी अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

एक दिन स्वामी शिवानन्दजी ने चारुचन्द्र तथा उनके कुछ मित्रों की ओर से स्वामीजी से अनुरोध किया कि वे कृपा करके इन युवकों को दीक्षा प्रदान करें। स्वामीजी ने प्रसन्न चित्त से चारुचन्द्र को मंत्रदीक्षा देकर धन्य किया। वाराणसी में स्वामीजी की उपस्थिति अल्पकालीन होने पर भी चारुचन्द्र आदि युवकों के हृदय पर उसका दूरगामी परिणाम हुआ था। वहाँ से विदा लेने के पूर्व चारुचन्द्र आदि युवकों के अनुरोध पर स्वामीजी ने स्वयं ही अंग्रेजी में बोलकर 'सेवाश्रम के सहायतार्थ जन-साधारण से एक अपील'[१] लिखा दिया था। रामकृष्ण मिशन के सेवाकार्य के इतिहास में स्वयं स्वामीजी द्वारा प्रचारित इस अपील (आवेदन) का निश्चय ही एक विशेष महत्त्व है। मूल आवेदन का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है –

प्रिय ......

इसके साथ रामकृष्ण सेवाश्रम, बनारस की पिछले वर्ष की यह कार्य-विवरणी कृपया स्वीकार करें। इस नगर के हमारे अनेक भाई-बन्धु, प्राय: वृद्ध नर-नारी, जिस दयनीय परिस्थिति में पड़े हुए कष्ट झेल रहे हैं, उसमें यत्किंचित् सुधार की हमने जो विनम्र चेष्टा की है, यह उसी का एक संक्षिप्त विवरण है।

इस बौद्धिक जागरण और सतत जागरूक जनमत के युग में हिन्दुओं के तीर्थस्थान, उनकी स्थिति तथा उनकी कार्य-प्रणाली भी आलोचकों की तीक्ष्ण दृष्टि से बच नहीं सकी है; और यह नगरी समस्त हिन्दू जाति के लिये परम पावन है, अत: इसे अपने हिस्से की आलोचना भी लेनी पड़ी है।

अन्य तीर्थस्थानों में लोग पाप से शुद्धि हेतु जाते हैं और इन स्थानों से उनका सम्बन्ध भी केवल सामयिक तथा कुछ दिनों का ही होता है। परन्तु आर्यजाति के प्राचीनतम एवं जीवन्त केन्द्र – इस नगर में – वृद्ध तथा जरा-जीर्ण नर-नारी भगवान विश्वनाथ के मन्दिर की छाया-तले बैठकर चिर मोक्ष पाने की कामना से धीरे-धीरे मृत्यु की प्रतीक्षा करने आते हैं।

फिर कुछ ऐसे लोग भी हैं, जिन्होंने विश्व-कल्याण हेतु अपना सब कुछ त्याग दिया है और अपने सगे-सम्बन्धियों तथा मित्रों की सहायता को सदा के लिए नकार दिया है। उन्हें भी सामान्य लोगों के समान नियति का प्रहार झेलते हुए दैहिक रोग आदि का शिकार होना पड़ता है।

इसके लिये कुछ दोष तो नगर की प्रबन्ध-व्यवस्था को दिया जा सकता है। इतने उन्मुक्त रूप से पण्डों-पुरोहितों पर जो आलोचना की वर्षा की जाती है, सम्भव है कि वे काफी हद तक इसके हकदार हों; तथापि हमें यह महान् सत्य भी भुला नहीं देना चाहिए कि 'जैसी जनता वैसे पुरोहित' ! यदि लोग हाथ-पर-हाथ रखे, एक किनारे खड़े रहें और अपने द्वार के पास से होकर प्रवाहित होनेवाली दु:ख-दुर्दशा की प्रखर धारा द्वारा, कष्टों के भँवर में बहाकर ले जाये जा रहे असहाय नर-नारियों, बच्चों, संन्यासियों तथा गृहस्थों को, मात्र एक मूक दर्शक होकर देखते रहे; और उनमें से किसी को भी उस धारा से बचाने का जरा भी प्रयास किये बिना, केवल तीर्थों के पण्डे-पुरोहितों के दुष्कृत्यों का राग अलापते रहें, तो इस दुर्दशा में कण मात्र की भी कमी नहीं आयेगी और न किसी की सहायता ही हो सकेगी।

हमारे पूर्वजों का जो विश्वास था कि भगवान शिव की यह सनातन नगरी मुक्ति देनेवाली है, क्या हम इस विश्वास को अक्षुण्ण रखना चाहते हैं? यदि चाहते हैं, तो साल-दर-साल प्राण त्यागने के लिए यहाँ आनेवालों की संख्या में वृद्धि देखकर हमें प्रसन्न होना चाहिए। और भगवान के नाम की जय हो कि दीन जनों में मुक्ति की यह उत्कट कामना सदा की भाँति अब भी जाग्रत है।

जो दीनजन यहाँ मृत्यु का वरण करने आते हैं, वे स्वेच्छया अपने जन्मस्थान में सुलभ सारी सहायता से स्वयं को वंचित कर लेते हैं। व्याधिग्रस्त होने पर उनकी जो दुर्दशा होती है, उसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है और एक हिन्दू होने के नाते उसका प्रतिकार करने का दायित्व हम आपकी संवेदनशीलता तथा अन्तरात्मा पर छोड़ देते हैं।

बन्धु, अन्तिम विश्राम की तैयारी के इस अद्भुत स्थान का विलक्षण आकर्षण क्या आपको स्तब्ध तथा मुग्ध नहीं कर देता? मृत्युद्वार से मुक्तिधाम की ओर गमनशील तीर्थयात्रियों का यह अविराम प्रवाह क्या आपको एक अलौकिक श्रद्धा से अभिभूत नहीं कर देता? यदि करता है, तो फिर आइए और हमारे कार्य में हाथ बँटाइये।

यदि आपका योगदान कण मात्र हो, यदि आपकी सहायता अति अल्प हो, तो भी परवाह मत कीजिये, क्योंकि एक

१. द्रष्टव्य – विवेकानन्द साहित्य, सं. २००७, खण्ड ९, पृ. ३१९-२२

पुरानी कहावत है – तिनकों को एकत्र करके उससे बनी हुई रस्सी महामत्त गजराज को भी बाँध रखने में समर्थ होती है।

सदा विश्वेश्वर-पदाश्रित आपका

विवेकानन्द

स्वामीजी के हस्ताक्षर के साथ जब यह अपील प्रकाशित हुआ, तो इसका मानो मंत्र के समान प्रभाव हुआ। देशवासियों की दृष्टि सहज भाव से श्रीरामकृष्ण के पवित्र नाम के वाहक इस सेवाश्रम की ओर आकृष्ट हुई। १९०२ ई. के २३ नवम्बर को सेवाश्रम के सेवकों तथा पृष्ठपोषकों ने वाराणसी के कारमाइकेल ग्रन्थालय के हॉल में एक सभा बुलाकर सेवाश्रम को रामकृष्ण मिशन के हाथों में समर्पित कर देने का निर्णय लिया। यह भी निर्धारित हुआ कि इसके बाद से यह Ramakrishna Mission Home of Service (रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम) के नाम से परिचित होगा।

सेवाश्रम के ऊपर स्वामीजी का स्नेहाशीष होने के फलस्वरूप स्वामी ब्रह्मानन्द जी, सारदानन्द जी, शिवानन्द जी आदि श्रीरामकृष्ण के शिष्यों की भी इस संस्था पर सतर्क दृष्टि थी। इन सभी महापुरुषों की प्रेरणा तथा शुभेच्छा ने, लोकदृष्टि से अदृश्य रहकर भी, एक छोटे-से बीजरूप इस संस्था को एक विशाल वटवृक्ष के रूप में परिणत करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। भगिनी निवेदिता ने भी अपने गुरुदेव के आशीर्वाद से पुष्ट इस सेवाश्रम की उन्नति के लिये काफी परिश्रम करके द्वार-द्वार जाकर भिक्षाटन किया था; और साथ ही अपनी लेखनी तथा व्याख्यानों के माध्यम से भी इसके भाव तथा आदर्श को शिक्षित समुदाय में प्रचारित करने में प्रभूत सहायता की थी।

स्वामीजी के आदेश पर शिवानन्द जी ने काशी में श्रीरामकृष्ण अद्वैत-आश्रम की स्थापना की। वह भी सेवाश्रम के त्यागी कर्मियों के लिये एक नवीन सुयोग तथा प्रेरणा का स्रोत सिद्ध हुआ था। १९०२ ई. के ५ जुलाई को जब चारुचन्द्र को कलकत्ते के अपने एक मित्र द्वारा भेजे तार से यह सूचना मिली कि पिछली रात स्वामीजी ने महासमाधि ले ली है, तो वे वज्राहत के समान हो गये और उस तार को दौड़ते हुए ले जाकर महापुरुष शिवानन्द जी को दिखाया। महापुरुष जी इसके पहले ही मठ से यह दु:संवाद पा चुके थे। सजल नेत्रों के साथ उस दिन उन्होंने चारुचन्द्र तथा अन्य उपस्थित सेवकों से कहा था, "स्वामीजी कभी-कभी कहा करते थे – काशी का कार्य ही मेरा अन्तिम कार्य है। देखो, उनकी बात कैसे अद्भुत रूप से सत्य सिद्ध हुई। कुछ माह पूर्व ही वे तुम लोगों के हृदय में सेवाधर्म का बीज रोपण कर गये थे और अपनी ही इच्छानुसार अद्वैत आश्रम की स्थापना के दिन ही कल[२] वे महासमाधि में चले गये। इस घोर विपत्ति के द्वारा भारत का न जाने कौन-सा कल्याण साधित होगा! ठाकुर और स्वामीजी जिस कर्मपथ का निर्देश दे गये हैं, वही भारत के प्रत्येक नर-नारी के लिये कल्याणकारी गन्तव्य पथ है।" स्वामी शिवानन्द जी की उपस्थिति तथा आध्यात्मिक प्रभाव ने उस समय सेवाश्रम के कर्मियों को काफी शक्ति प्रदान की थी। संघनायक स्वामी ब्रह्मानन्द जी, जब १९०३ ई. में सुबोधानन्द जी के साथ कनखल जाते हुए, काशी के अद्वैत आश्रम में पधारे, उस समय उन्होंने सेवाश्रम के लिये स्थायी भवन-निर्माण की उपयोगिता के विषय में चारुचन्द्र आदि कर्मियों को उत्साहपूर्ण उपदेश दिया था। वस्तुत: तभी से सेवाश्रम के लिये एक उपयुक्त भूखण्ड की खोज चल रही थी। यह भी स्मरणीय है कि उस समय महाराज ने स्वयं भी काशी के विभिन्न स्थानों में घूमकर जमीन के विषय में खोजबीन की थी।

आखिरकार करीब १९०६ ई. में काशी के लक्सा मुहल्ले में सेवाश्रम की स्थापना के उपयुक्त सुविस्तृत पाँच बीघा (पौने दो एकड़) जमीन प्राप्त की गयी। कलकत्ते के उपेन्द्र नारायण देव और हुगली की तारिणीचरण पाल ने भूमि खरीदने हेतु पूरी धनराशि उपलब्ध करायी थी। संयोगवश उस समय स्वामी सारदानन्द जी भी काशी में ही उपस्थित थे, अत: उनका तथा शिवानन्द जी का अनुमोदन लेकर जमीन को मिशन के नाम से खरीदा गया। बाद में १९०८ ई. के अप्रैल में स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने नये भूखण्ड पर सेवाश्रम के लिये परिकल्पित भवनों के लिये आधारशिला रखी और इसके भी लगभग दो वर्ष बाद १९१० ई. के १६ मई को महाराज ने नवनिर्मित भवनों का उद्घाटन किया। सेवाश्रम के इन नये भवनों का निर्माण स्वामी विज्ञानानन्द जी की प्रत्यक्ष देखरेख तथा परियोजना के अनुसार हुआ था। सेवाश्रम के इतिहास में नि:सन्देह यह एक स्मरणीय दिन था। इतने दिनों बाद चारुचन्द्र के स्वप्न ने साकार रूप धारण करना आरम्भ कर दिया था। सेवाश्रम के नये भवनों में सामान्य रोगियों के लिये छह तथा संक्रामक रोगियों के लिये तीन – इस प्रकार कुल मिलाकर नौ विभागों में ४६ रोगियों को रखने की व्यवस्था थी। इसके अतिरिक्त बहिर्विभाग (आउटडोर) के लिये दवा-वितरण का स्थान, औषधालय तथा पाठागार आदि के लिये भी पूरा प्रबन्ध था। देश के उदार लोगों के दान तथा सहायता से ही सेवाश्रम के कर्मियों ने चारुचन्द्र के नेतृत्व में प्राण-मन लगाकर नर-नारायण की सेवा में आत्मनियोग किया था। लक्सा मुहल्ले में नये सेवाश्रम का कार्य आरम्भ हो जाने पर वाराणसी के तत्कालीन प्रशासक श्री गैसकेल ने भी स्थानीय नगरपालिका की ओर से वार्षिक १२० रुपयों की आर्थिक

२. स्वामीजी के महासमाधि दिवस – ४ जुलाई १९०२ को ही काशी में श्रीरामकृष्ण अद्वैत आश्रम की स्थापना हुई थी।

अनुदान का प्रबन्ध कर दिया था। सम्भवत: यही पहला उदाहरण था, जब सरकार या सरकार द्वारा अनुमोदित किसी संस्था की ओर से सेवाश्रम के कार्य के प्रति सक्रिय सहयोग दिखाया गया था। अनेक पुण्य स्मृतियों से जुड़े इस विशेष सेवा-निकेतन – रामकृष्ण मिशन की एक सुप्रसिद्ध संस्था – काशी सेवाश्रम का यही संक्षिप्त इतिहास है।

१९१२ ई. का ८ नवम्बर चारुचन्द्र तथा सेवाश्रम के लिये एक विशेष पुण्य-दिवस था। उसी दिन जगदम्बा श्री सारदा देवी की चरणधूलि पाकर सेवाश्रम एक तीर्थ में परिणत हो गया। सेवाश्रम का परिदर्शन करने के बाद माँ ने अपने आशीर्वाद के रूप में चारुचन्द्र के पास दस रुपये का एक नोट भेज दिया था। इसके साथ ही उन्होंने कहा था, ''यह स्थान मुझे इतना अच्छा लगा है कि मेरी यहीं पर स्थायी रूप से रह जाने की इच्छा हो रही है।'' नि:सन्देह श्रीमाँ की अपने मुख की वाणी निरर्थक नहीं हो सकती – स्थूल शरीर में न सही, सेवाश्रम में जगन्माता अन्नपूर्णा की सेवामूर्ति नित्य विराजित है। जगदम्बा के आशीष के रूप में प्राप्त वह दस रुपये का नोट सेवाश्रम में अब भी यत्नपूर्वक सुरक्षित रखा हुआ है।

सेवाश्रम के कार्य में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही थी। चारुचन्द्र ने स्वयं को सबका सेवक मानकर सेवाश्रम के लिये आत्मोत्सर्ग कर दिया था। कर्म की स्वाभाविक गति जैसी हुआ करती थी, सेवाश्रम के मामले में भी उससे कुछ भिन्न नहीं हुआ। उसे भी तरह-तरह की समस्याओं तथा बाधा-विघ्नों से गुजरना पड़ा था। अन्य सभी क्षेत्रों में चारुचन्द्र का अद्भुत धैर्य, सहनशीलता, संचालन-कुशलता और सर्वोपरि आदर्श-निष्ठा सेवाश्रम की अग्रगति में सहायक सिद्ध हुआ था। कर्म की परिधि में ज्यों-ज्यों वृद्धि हो रही थी, त्यों-त्यों ईश्वर की इच्छा तथा विभिन्न अलौकिक उपायों से सहायता भी आ रही थी। धीरे-धीरे सेवाश्रम के आयतन में काफी वृद्धि हुई। चारुचन्द्र की कर्मशक्ति केवल निर्धन पीड़ितों की सेवा तक ही आबद्ध नहीं रही, उनके उद्यम से निर्धन बच्चों तथा अनाथ वृद्धाओं के लिये भी अलग-अलग आश्रम स्थापित हुए।

१९१३ ई. के अक्तूबर में स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने काशी में आकर कुछ दिन सेवाश्रम में निवास किया था। महाराज के उत्साह से इस बार अद्वैत आश्रम में प्रतिमा लाकर दुर्गापूजा का अनुष्ठान हुआ। महाराज की उपस्थिति चारुचन्द्र आदि सेवाश्रम के कर्मियों के आध्यात्मिक जीवन के लिये बड़ी सहायक सिद्ध हुई थी। महाराज स्वयं ही सेवाश्रम को विभिन्न प्रकार के वृक्ष-लताओं से सुसज्जित करने में तत्पर हुए। उन्होंने ही देश के विभिन्न अंचलों से बीज तथा पौधे मँगवाकर उनका यथास्थान रोपण करके सेवाश्रम को श्री-सम्पन्न कर दिया था। महाराज ने ही पुरी से विभिन्न रंगों की समुद्री सीपियाँ तथा कौड़ियाँ लाकर सेवाश्रम के मुख्य प्रवेश-मार्ग के दोनों खम्भों पर उन्हें जड़वाने की भी व्यवस्था की थी। इसीलिये स्थानीय लोग अब भी सेवाश्रम को 'कौड़िया अस्पताल' कहते हैं। सेवाश्रम के एक बिल्व वृक्ष को दिखाते हुए महाराज ने एक बार कहा था, ''उस बेल के पेड़ पर एक सूक्ष्मदेही रहते हैं, किसी का अनिष्ट नहीं करते।''

१९१५ ई. के प्रारम्भ तथा १९१६ ई. के अन्त में स्वामी प्रेमानन्द जी तथा शिवानन्द जी ने कुछ काल सेवाश्रम में रहकर चारुचन्द्र को उत्साहित किया था। स्वामी सारदानन्द तथा अखण्डानन्दजी भी कई बार सेवाश्रम में पधारे थे। स्वामी तुरीयानन्द ने तो अपने जीवन का अन्तिम भाग काशीधाम में ही बिताया था। इन महापुरुष का नाम काशी सेवाश्रम के साथ ओतप्रोत भाव से जुड़ा हुआ है। १९१९ ई. के फरवरी महीने से अपने जीवन के आखिरी साढ़े तीन वर्ष उन्होंने सेवाश्रम में ही निवास किया था। तुरीयानन्दजी कहते, ''सेवाश्रम में रोगियों की सेवा से साक्षात् नारायण की सेवा होती है। शिवावतार स्वामीजी की वाणी पर विश्वास करो, सेवाश्रम में शिव की सेवा में लग जाओ, मुक्त हो जाओगे। इससे पिछले जन्मों के कर्मों का क्षय हो जाता है, चित्त शुद्ध हो जाता है। नारायण-ज्ञान से सेवा ही इस युग के लिये उपयोगी साधना है।'' सेवाश्रम के सेवकों के चित्त में प्रेरणा जगाने के निमित्त वे कहते, ''तीन दिनों तक ठीक-ठीक नारायण-सेवा करने पर प्रत्यक्ष उपलब्धि हो जायगी। जिन लोगों ने किया है, उन्होंने प्राणों में ही समझ लिया है।'' इस प्रकार श्रीरामकृष्ण के शिष्यों द्वारा सस्नेह लालन-पालन तथा चारुचन्द्र आदि अथक कर्मी-सेवकों के सतत उद्यम से सेवाश्रम यथार्थ रूप से सेवा तथा साधना का एक पीठस्थान हो उठा है।

सुदीर्घ बीस वर्षों तक प्राणपण से परिश्रम करने के बाद चारुचन्द्र अब सर्व कर्मों के परे जाने के लिये प्रस्तुत हो रहे थे। १९२१ ई. के २९ जनवरी को अपने परम आराध्य गुरुदेव स्वामीजी की जन्मतिथि की पूर्वरात्रि को चारुचन्द्र ने सहसा एक सेवक को बुलाकर कहा, ''कल से मैं छुट्टी पर जा रहा हूँ और सम्भवत: यह मेरी अन्तिम छुट्टी होगी।'' भोर के समय ही वे अपने कर्म तथा कर्मक्षेत्र से अवकाश लेकर एकाकी प्रयाग-तीर्थ की ओर चल पड़े। वे प्रयाग के निकट झूसी में जाकर कुछ दिनों तक वहीं तपस्या में डूबे रहे। स्वामी ब्रह्मानन्द तथा सारदानन्द जी उस समय काशी में आये हुए थे। क्रमश: महाराज का जन्मदिन आ पहुँचा। चारुचन्द्र उसी दिन प्रयाग-तीर्थ से काशीधाम लौटे और महाराज के चरणों में उनके जन्मदिन का प्रणाम निवेदित किया। लगभग एक माह बाद श्रीरामकृष्ण के आविर्भाव-दिवस के अवसर पर महाराज ने कर्मत्यागी चारुचन्द्र को कर्मबन्धन से पूर्णत: मुक्त करते हुए उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की। इस संसार से

कर्मी चारुबाबू की मृत्यु हो गयी और संन्यासी शुभानन्द के रूप में उनके शरीर ने नवजन्म प्राप्त किया।

इसके बाद स्वामी शुभानन्द ने एक नि:सम्बल परिव्राजक के रूप में कुछ काल उत्तराखण्ड के तीर्थों की यात्रा की और तपस्या में लगे रहे। यात्रा तथा तपस्या के दिनों में वे माधुकरी के द्वारा उदरपूर्ति किया करते थे। इन दिनों वे दीन-अकिंचन के वेश में, केवल भगवान के नाम के भरोसे रहकर साधन-भजन तथा ध्यान-धारणा आदि में ही अपने मन की सारी शक्तियों का उपयोग करते थे। जब वे कर्मक्षेत्र में थे, तब उन्होंने अपनी सारी शक्तियाँ कर्म में झोंक दी थीं, फिर जब से कर्मत्यागी हुए, उसी दिन से वे निरालम्ब संन्यासी हो गये। १९२४ ई. में उन्होंने पुन: काशीधाम में आकर गिरीश्वर-मन्दिर में रहकर साधन-भजन किया था। उनसे बहुत अनुरोध किया गया कि वे सेवाश्रम में ही आकर रहें, परन्तु अब वे अपना तपस्या का जीवन छोड़ने को प्रस्तुत नहीं थे।

अस्तु। बाद में सेवाश्रम के संचालक कालिकानन्द के आग्रह पर वे कुछ दिनों के लिये सेवाश्रम में ठहरे थे, तथापि उन्होंने कर्म में फिर प्रवेश नहीं किया। १९२५ ई. में शुभानन्द जी की ही सलाह पर सेवाश्रम के संचालकों ने देहरादून के पास किसनपुर में 'श्रीरामकृष्ण साधन-कुटीर' की स्थापना की। यह 'साधन-कुटीर' नाम तुरीयानन्द जी ने दिया था। शुभानन्द जी की इच्छा थी कि सेवाश्रम के साधुकर्मी जब कर्म से क्लान्त हो जायें, तो 'साधन-कुटीर' में जाकर कुछ काल एकान्तवास तथा साधन-भजन करके अपने शरीर तथा मन को नवीन ऊर्जा से परिपूर्ण कर लें। उनकी इस आकांक्षा के विषय में अवगत होने के बाद तुरीयानन्द जी ने कहा था, "यह जानकर मैं बड़ा आनन्दित हूँ कि शुभानन्द इस प्रकार का एक आश्रम बनाना चाहता है। आश्रम का नाम 'साधन-कुटीर' रखना ठीक होगा। तुम लोगों का शुभ संकल्प शीघ्र रूपायित हो।" स्वामी सारदानन्द ने भी शुभानन्द जी के इस प्रस्ताव पर बड़ी खुशी व्यक्त की थी। किसनपुर में 'साधन-कुटीर' की स्थापना होने पर शुभानन्द और भी कुछ सेवक साधुओं के साथ वहाँ गये और कुछ दिन तपस्या आदि में बिताया। परन्तु उनका स्वास्थ्य क्रमश: बिगड़ रहा था, अब उनसे कठोरता सहन नहीं होती थी, अत: चिकित्सा हेतु उन्हें पुन: पहाड़ से उतरकर वाराणसी में आना पड़ा।

रुग्ण शरीर में भी वे किसी की सेवा ग्रहण नहीं करते थे। इसके फलस्वरूप उनके शरीर का कष्ट क्रमश: बढ़ता जा रहा था। सारदानन्द जी ने चिकित्सा आदि के लिये उन्हें मठ ले जाने का काफी प्रयास किया। एक बार वे मठ में गये भी थे, परन्तु वहाँ अधिक दिन ठहरे नहीं। शुभानन्द ने संकल्प कर लिया था कि वे काशी में ही देहत्याग करेंगे। परन्तु वहाँ की गर्मी उनके लिये असह्य हो उठने के कारण उन्हें कनखल ले जाने का निश्चय किया गया। जब कनखल जाने की सारी व्यवस्था हो गयी, तो एक दिन सारदानन्द जी का एक पत्र सिर से लगाने के बाद शुभानन्द ने कहा था, "सोचा था कि यह नश्वर शरीर काशी के गंगा में ही विसर्जित करूँगा, परन्तु बाबा विश्वनाथ की इच्छा कुछ और है। उन्हीं की इच्छा पूर्ण हो। मैं कनखल ही जाऊँगा।"

१९२६ ई. के अप्रैल का महीना था। कनखल की जलवायु में शुभानन्द जी के स्वास्थ्य में कुछ सुधार दिख रहा था। हिमालय के पवित्र परिवेश में उनकी मानसिक प्रफुल्लता में भी वृद्धि हुई थी। परन्तु बँगला नववर्ष (बैशाखी) के दिन एक दुर्घटना के फलस्वरूप वे सहसा इस जगत् से विदा हो गये। घटना का विस्तृत वर्णन उन्हीं के एक सेवक द्वारा लिखित एक पत्र में मिलता है –

"आज करीब एक मील घूमने के बाद लौटते समय जब हम लोग आश्रम के निकट आ पहुँचे थे, तभी उन्होंने स्नान करने की इच्छा व्यक्त की। कैनाल (गंगा की नहर) के एक घाट पर उन्होंने अपने शरीर के वस्त्र तथा जूते खोलकर रख दिये और जल में उतर गये। मैं यह सोचकर आश्रम की ओर चला कि जाकर उनका गमछा तथा कपड़े ले आऊँ। १०-१२ मिनट के भीतर ही मैं लौट आया। परन्तु घाट पर पहुँचकर मैंने देखा कि वहाँ उनके वस्त्र तथा जूते तो हैं, परन्तु वे नहीं हैं। यह देखते ही मैं नहर की धारा के साथ दौड़ने लगा और जिसे भी सामने पाता, उससे पूछने लगा कि उन्होंने किसी साधु को पानी में बहते तो नहीं देखा है! इसी प्रकार दौड़ते हुए पंजाबी सत्र के पास पहुँचकर मैंने सुना कि वहाँ के कुछ महात्माओं ने नहर में एक साधु को बहकर जाते हुए देखा और उन्हें जल से निकाला था। तब भी उनके शरीर में प्राण के चिह्न देखकर वे लोग उसे सेवाश्रम के अस्पताल में ले गये हैं। यह समाचार पाते ही मैं दौड़कर आश्रम में आया और देखा कि वे हमारे शुभानन्द जी ही थे। आश्रम के सभी लोग यथोचित प्रक्रिया के द्वारा उन्हें बचाने के प्रयास में लगे थे। उनके पेट से सारा जल बाहर आ गया, परन्तु उनकी धमनियों में प्राणों का स्पन्दन नहीं रह गया था। प्रयास काफी हुए थे, परन्तु दुर्भाग्यवश उसका कोई फल नहीं हुआ। उनका शरीर अविकृत था और मुख-मण्डल पर एक ऐसा शान्त तथा ज्योतिर्मय भाव था, जिसे मैं आजीवन भूल नहीं सकूँगा। इस बार काशी से प्रस्थान करते समय उन्होंने ट्रेन में मुझसे कहा था, "काशी-प्राप्ति तो नहीं हुई, अब हरिद्वार-प्राप्ति ही होगी।" देखता हूँ कि वही बात सत्य सिद्ध हुई। माँ-गंगा से उनका बड़ा प्रेम था, अत: वे गंगाविहीन स्थान में नहीं रहना चाहते थे। इसी कारण लगता है माँ-गंगा ने उन्हें अपनी गोद में खींच लिया।"[३]

३. उद्बोधन, ज्येष्ठ १३३३ का अंक

(शेष अगले पृष्ठ पर)

ध्यान के लिए मन की तैयारी (१)

स्वामी आदीश्वरानन्द

(मन के शुष्क या चंचल रहने पर ध्यान में बैठना प्राय: असम्भव हो जाता है। ध्यान की मन:स्थिति को कई आन्तरिक व बाह्य तत्त्व प्रभावित करते रहते हैं। रामकृष्ण-विवेकानन्द केन्द्र, न्यूयार्क के एक वरिष्ठ संन्यासी ने इस लेख में उन तत्त्वों पर अन्तर्दृष्टि-पूर्ण चर्चा की है। मूलत: अंग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के मार्च तथा अप्रैल १९८० अंकों में प्रकाशित लेख का स्वामी विदेहात्मानन्द कृत हिन्दी अनुवाद यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

ध्यान आन्तरिक तल्लीनता की एक ऐसी अवस्था है, जिसमें साधक का मन निरन्तर तथा सहज भाव से ध्येय विषय की ओर प्रवाहित होता रहता है। भगवद्गीता इस आन्तरिक तल्लीनता की तुलना वायुरहित स्थान में सुरक्षित रखे हुए एक दीपक की निष्कम्प लौ से करती है। पतंजलि – **प्रत्यैकतानता ध्यानम्** – 'सम्पूर्ण मन का ध्येय विषय की ओर अटूट प्रवाह' – कहकर इस अवस्था का वर्णन करते हैं। भागवत के अनुसार – यह वह दशा है जिसमें ध्यान करनेवाला अपने ध्येय विषय के साथ एकाकार हो जाता है। रामानुज इस अवस्था को 'अपने प्रियतम की एक सहज तथा प्रेमपूर्ण स्मृति' – ध्रुवा स्मृति – सतत स्मरण – मानते हैं।

ध्यान की यह अवस्था स्वयं को क्रमश: अपने को भीतर की ओर समेटने की प्रक्रिया द्वारा प्राप्त होती है। इसमें वाणी को खींचकर मन में, मन को खींचकर बुद्धि में और बुद्धि को खींचकर अन्तरात्मा में समेट लिया जाता है। ध्यान की परिणति समाधि की उस अवस्था में होती है, जिसमें व्यष्टिगत चेतना या अन्तरात्मा पूरी तौर से पूर्ण तथा सर्वव्यापी शुद्ध चैतन्य अर्थात् परमात्मा के अनन्त विस्तार में विलीन हो जाती है। यह मानो कुछ ऐसा ही है, जैसे कि बर्फ का एक टुकड़ा पिघलकर समुद्र के जल से एकाकार हो जाता है। माण्डूक्य उपनिषद् हमारे अस्तित्व की तीन अवस्थाएँ बताती है – जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। इन अवस्थाओं के परे एक अन्य अवस्था भी है, जिसे यह उपनिषद् तुरीय या चतुर्थ अवस्था कहती है। यह तुरीय अवस्था ही समाधि भी कहलाती है। जाग्रत, स्वप्न, तथा सुषुप्ति की इन तीन अवस्थाओं को पार करके ही तुरीय अवस्था में पहुँचा जा सकता है। ध्यान का लक्ष्य स्वेच्छापूर्वक प्रयास के द्वारा इस सर्वातीत अवस्था को प्राप्त करना है। साधना के रूप में ध्यान के तीन पहलू हैं – ध्येय विषय, ध्यान की क्रिया और ध्यानकर्ता। ध्यान में तल्लीनता ज्यों-ज्यों गहरी होती जाती है, त्यों-त्यों ये तीनों पहलू क्रमश: एक में समाहित होने लगते हैं। जाग्रत, स्वप्न, तथा सुषुप्ति – तीनों का एक में विलय की इस चरमावस्था को वेदान्त-दर्शन 'त्रिपुटी विलय' कहता है। ध्यान अनेक साधनाओं में से एक साधना मात्र नहीं है, बल्कि यह ध्याता के मतवाद से निरपेक्ष, उसकी समस्त साधनाओं की परिणति तथा समाहार है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "संध्या-वन्दन का लय गायत्री में होता है और गायत्री का ॐकार में और ॐकार का समाधि में।" अर्थात् आनुष्ठानिक पूजा तथा प्रार्थना गायत्री में लीन हो जाते हैं, जो कि वेदों की सर्वोच्च तथा सर्वाधिक सारभूत प्रार्थना है। तदुपरान्त गायत्री और भी सघन होकर पवित्र शब्द 'ॐ' के रूप में परिणत हो जाती है, जो कि समस्त शब्दों का मूल उद्गम है। और अन्तत: ॐ भी समाधि की गहन नीरवता में विलीन हो जाता है। ऐसी बात नहीं कि साधक को ध्यान की अवस्था प्राप्त होती हो, बल्कि उल्टे यह अवस्था ही उसे अभिभूत कर लेती है। जैसे एक थका-माँदा व्यक्ति जगे रहने की अपने यथासाध्य चेष्टा के बावजूद गहरी निद्रा द्वारा अभिभूत कर लिया जाता है, उसी प्रकार साधक भी संसार की असारता के द्वारा विरक्त होकर, असीम तथा अतल निरवता के समुद्र रूप समाधि की अवस्था के द्वारा अभिभूत कर लिया जाता है।

इन तीन प्रकार के सहज बोधातीत अवस्थाओं में से प्रत्येक की तीव्रता के द्वारा आन्तरिक तल्लीनता की गम्भीरता

पिछले पृष्ठ का शेषांश

स्वामी शुभानन्द एक आदर्श कर्मी थे। उनकी परदु:ख-कातरता तथा सेवानिष्ठा चिरकाल तक एक दृष्टान्त बनी रहेगी। जब वे वाराणसी-सेवाश्रम के सर्वेसर्वा प्रमुख थे, तब भी वे अपने विषय में कहा करते, "मैं सेवाश्रम की व्यवस्था मात्र करता हूँ, मैं इसका प्रमुख नहीं हूँ।" प्रतिदिन विश्वनाथ-अन्नपूर्णा तथा गंगा का दर्शन करना उनकी अपरिहार्य दिनचर्या का अंग था। गंगाजी के तट पर थोड़ी देर टहलना और स्वामीजी से सम्बन्धित किसी ग्रन्थ का पाठ तथा चर्चा करना – यह भी उनका एक बड़ा प्रिय अभ्यास था। इन उद्देश्यों के साथ जब वे सड़क पर निकलते, उस समय थोड़ा-सा चावल-दाल या कोई अन्य खाद्य-सामग्री भी अपने साथ रख लेते। कोई भूखा दीख पड़ता, तो वे उसे अपने हाथ से वह सब प्रदान करते। यथार्थ रूप से कहें, तो शुभानन्द ने अपने सीने का रक्त बहाकर अपने गुरुदेव से प्राप्त सेवादर्श को कार्यरूप में परिणत किया था। 'उद्बोधन' की ही भाषा में हम भी कह सकते हैं – सेवाश्रम-भवन की प्रत्येक ईंट और वहाँ की मिट्टी के प्रत्येक कण के साथ स्वामी शुभानन्द का रक्तबिन्दु मिश्रित है और चिरकाल तक रहेगा; सेवाश्रम की मौन व्यथा चिरकाल तक उन्हीं का जयघोष करती रहेगी।

❖ **(समाप्त)** ❖

का मूल्यांकन किया जा सकता है। **प्रथमत:** ध्याता जब आन्तरिक तल्लीनता की अवस्था में स्वयं को खो बैठता है, तब वह समय के भाव के परे चला जाता है और इस कारण उसे समय के बीतने का बोध नहीं रहता। **द्वितीयत:** वह स्थान के भाव के परे चले जाता है और उसे अपने चारों ओर के परिवेश का बोध नहीं रह जाता है। और **तृतीयत:** वह अपनी 'अहं'-चेतना के परे चले जाता है और इस प्रकार अपने से सम्बन्धित सब कुछ के अतीत हो जाता है। यह आन्तरिक तल्लीनता एक दिन में प्राप्त नहीं की जा सकती; यह योजनाबद्ध रूप से, जल्दबाजी या समयबद्ध रूप से प्राप्त नहीं की जा सकती। यह किसी विशेष आसन, आहार, बैठने की अवधि अथवा ध्यान-साधना के किन्हीं अन्य तत्त्वों पर निर्भर नहीं करती। इसमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ध्यान की मन:स्थिति ही है। साधक को ध्यान करने की मन:स्थिति का बोध होना चाहिए। श्रीरामकृष्ण ने इस आध्यात्मिक मन:स्थिति को एक तरह की दिव्य उन्मत्तता के रूप में वर्णन किया है। इस प्रकार की उन्मत्तता या मतवालेपन के अभाव में ध्यान कर पाना सम्भव नहीं है।

अनुकूल तथा प्रतिकूल मन:स्थिति

एक सामान्य व्यक्ति तरह तरह की मनोदशाओं का अनुभव करता है और वह इन्हीं के द्वारा परिचालित होता है। उसमें अनेक प्रकार की मन:स्थितियाँ आती हैं, जिस पर उसका कोई नियंत्रण नहीं होता। उसके सभी विचार तथा दृष्टिकोण और अनुभूतियाँ तथा संकल्प विविध प्रकार से अत्यधिक मात्रा में इन्हीं मनोदशाओं के द्वारा प्रेरित होती हैं। भगवद्गीता इन तीन विभिन्न मनोदशाओं को मोटे तौर पर तीन वर्गों में विभाजित करती है – सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक। तामसिक तथा राजसिक मनोदशाएँ ध्यान के अनुकूल नहीं हैं। इनमें से प्रथम अर्थात् तामसिक मनोदशा मन में अँधियारा फैलाती है और उसे जड़ता की अवस्था में गिर जाने को मजबूर कर देती है, जो कि ध्यान सम्बन्धी सजगता के विपरीत है। दूसरी राजसिक मनोदशा अशान्ति तथा चंचलता पैदा करती है, जो मन को ध्यान के लिए अनुपयुक्त बना देती है। मन की तीसरी दशा को सात्त्विक कहते हैं, जिसमें वह शान्त तथा अनासक्त रहता है और इस कारण यही ध्यान के अभ्यास के लिए सर्वाधिक अनुकूल मन:स्थिति है।

विभिन्न साधक अपने अपने आन्तरिक संस्कार तथा आत्मसंयम के अनुसार विभिन्न मात्राओं में इस ध्यानप्रवण मन:स्थिति का अनुभव करते हैं। इस दृष्टि से साधकों को चार श्रेणियों में बाँटा गया है – प्रवर्तक, साधक, सिद्ध और पूर्ण सिद्ध। जो लोग ध्यान में पूर्णत: सिद्ध हैं, वे स्थान, काल तथा परिवेश से निरपेक्ष रहकर सर्वदा ध्यान की मन:स्थिति में तन्मय रहते हैं। सिद्ध अवस्था के लोग जब चाहें, बिना किसी कठिनाई के अपने मन में यह मन:स्थिति ला सकते हैं। साधक की अवस्था में ध्यान करनेवाला अनुकूल परिस्थितियों के अन्तर्गत ही इस अवस्था की प्राप्ति कर सकता है। परन्तु प्रवर्तक काफी कुछ अपने मन को अनुकूल संस्कारों पर निर्भर करता है। प्रवर्तक के ध्यान का अभ्यास सर्वदा ध्यानप्रवण मनोदशा के द्वारा प्रेरित नहीं होता, अतएव उसका अभ्यास प्राय: ही रुक्ष, उबाऊँ और यांत्रिक प्रतीत होता है। यदि कभी उसकी मन:स्थिति अनुकूल भी होती है, तो वह अल्पकालिक तथा अस्थिर ही सिद्ध होती है। अनुकूल मनोदशा के अभाव में ऐसे लोग अपनी साधनाओं में भावपूर्ण ढंग से नहीं लग पाते और प्राय: ही हताश हो बैठते हैं। प्रवर्तक की ध्यानप्रवणता सामान्यत: काफी कुछ निम्ननलिखित उपादानों से प्रभावित होती है – स्थान, समय, आसपास का परिवेश, दृश्य तथा ध्वनियाँ, वाणी, संग, आहार, शारीरिक दशा, अनासक्ति का बोध, अभ्यास की निरन्तरता, एकाग्र, इष्टनिष्ठा और ध्यान के पीछे उसका हेतु। अत: प्रवर्तक को चाहिए कि जब तक उन्होंने बाधाओं पर विजय पाने योग्य आन्तरिक मनोदशा का विकास नहीं कर लिया है, तब तक उसे अपने अपने अभ्यासों के अनुकूल परिस्थितियों पर निर्भर रहना होगा।

अनुकूल मन:स्थिति का विकास

ध्यान के लिए मन:स्थिति के विकास में योगदान करने वाले उपादानों – १. उचित निवास-स्थान २. अनुकूल परिवेश ३. उपयुक्त समय ४. अनुकूल शारीरिक अवस्था ५. महात्माओं का संग ६. सम्यक् वाणी बोलना ७. आहार की शुद्धि ८. उचित प्रणाली ९. अटल इष्टनिष्ठा १०. सेवा के कार्य ११. उचित प्रेरणा १२. विचार का अभ्यास १३. भक्ति-संगीत १४. स्वाध्याय तथा धर्म-ग्रन्थों का पाठ १५. आनुष्ठानिक अभ्यास या पूजा १६. नियमितता और साधना में सन्तुलन १७. प्राणायाम का अभ्यास १८. जप की साधना।

१. उचित निवास-स्थान

ध्यान के लिए मन:स्थिति के विकास में स्थान एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। संसार के आकर्षण-विकर्षणों से दूर किसी निर्जन स्थान में एक प्रवर्तक के लिए भी ध्यान की मन:स्थिति प्राप्त करना सहज हो जाता है। योग की परम्परा के अनुसार ध्यान का अभ्यास एकान्त में ही किया जाना चहिए। विशेषकर एक प्रर्वतक को बीच-बीच में संसार के दैनन्दिन क्रिया-कलापों से स्वयं को अलग करके निर्जन स्थान में चले जाना चाहिए। चित्त में विक्षेप पैदा करनेवाली वस्तुओं से दूर चले जाने पर मन से भी वे वस्तुएँ दूर चली जाती हैं। मन में विक्षेप पैदा करनेवाली वस्तुओं के निकट रहने पर मन को ध्यान में लगाना अत्यन्त कठिन हो जाता

है और इस कारण प्रकृति के एकान्त में आन्तरिक निर्जनता की खोज की जानी चाहिए।

परन्तु दैनन्दिन जीवन की दौड़-धूप के बीच रहने के अभ्यस्त हो चुके अनेक लोगों को निर्जन में निवास करने, निस्तब्धता में रस लेने और इनके द्वारा आध्यात्मिक लाभ उठाने में कठिनाई महसूस होती है। उन्हें तो यह बाह्य निर्जनता उबाऊँ तथा दमघोंटू प्रतीत होती है। इस कारण प्रवर्तक को बीच-बीच में लघु अवधि के लिए ही निर्जन में जाने की सलाह दी जाती है, यथा – प्रारम्भ में एक-दो दिन के लिए जाना और कमश: एकान्तवास की इस अवधि को बढ़ाते जाना। माँ श्री सारदा देवी ने कहा है कि निर्जनता व्यक्ति के आध्यात्मिक मनोदशा को गम्भीर बनाती है – "यदि तुम कुछ समय के लिए किसी निर्जन स्थान में साधना करो, तो देखोगे कि तुम्हारा मन सबल हो गया है और तब तुम किसी भी स्थान या समुदाय में, उससे जरा भी प्रभावित हुए बिना ही रह सकोगे। जब पौधा छोटा होता है, तो उसे बाड़ से घेरना चाहिए, परन्तु जब वह बड़ा हो जाता है, तब इसे बकरियाँ तथा गायें भी हानि नहीं पहुँचा सकतीं।"

श्रीरामकृष्ण देव के शब्दों में, "ध्यान करो – मन में, वन में या घर के कोने में।" ध्यान का अभ्यास गोपनीय तथा निर्जन स्थान में होना चाहिए और श्रीरामकृष्ण इसके लिए उपयुक्त तीन निर्जन स्थानों का संकेत देते हैं – अपने खुद के मन अन्दर का स्थान, अपने घर का कोई निर्जन कोना और वन का कोई एकान्त स्थल। प्रत्येक को सलाह दी जाती है कि वह अपने ध्यानावस्था के लिए प्राप्त सुयोग के अनुसार इनमें से कोई एक या सभी स्थानों को चुन ले। उसे अपने अभ्यास हेतु सभी परिस्थितियों के दौरान तब तक निर्जनता की खोज करनी चाहिए, जब तक कि उसमें आन्तरिक निर्जनता न विकसित हो जाय। निर्जन स्थान में मन शान्त हो जाता है। मन में विक्षेप उत्पन्न करनेवाली चीजें तथा परिस्थितियाँ दृष्टि से दूर रहने पर अपने आप ही मन से निकल जाती हैं। निर्जन में जाने के अभ्यास के पीछे वैराग्य तथा प्रार्थना का भाव भी जुड़ा होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं हुआ, तो सम्भव है, प्रवर्तक ध्यानप्रवण मन:स्थिति के स्थान पर छुट्टी मनाने की मन:स्थिति के द्वारा अभिभूत हो जाय।

२. अनुकूल परिवेश

ध्यान की मन:स्थिति बनाने में अनुकूल परिवेश एक सशक्त सहायक है। अनुकूल होने के लिए परिवेश को शान्त सांसारिक लोगों के चहल-पहल से दूर पवित्र और सुदृश्य होना चाहिए। हिन्दू शास्त्रों में निम्नलिखित स्थान ध्यान-साधना हेतु अनुकूल माने गए हैं – पहाड़, नदी का तट, मन्दिर, ऐसा स्थान जहाँ पूर्व में अनेक साधकों ने ध्यान के द्वारा सिद्धि पाई हो और कोई ऐसा निर्जन स्थान जो हिंस्र पशुओं तथा अन्य विक्षेपों से मुक्त हो। योगी को सर्वदा एकाकी रहना चहिए। श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि जिस स्थान में अधिक लोग रहते हों, वहाँ शोर-गुल तथा झगड़ा-फसाद की सम्भावना रहती है। यहाँ तक कि जहाँ केवल दो लोग रहते हों, वहाँ भी अधिकतर बातचीत की सम्भावना रहती है। अत: **योगी को निर्जन में और एकाकी रहना चाहिए।** निर्जन में तथा एकाकी रहते हुए योगी क्रमश: बाह्य जगत् के बखेड़ों से अलग हो जाता है और ध्यान के बारम्बार अभ्यास के द्वारा वह अन्तत: अपने भी मन के विक्षेपकारक स्पन्दनों के ऊपर उठ जाता है। हृदय के शान्त हो जाने पर ध्यान की अवस्था प्राप्त होती है। जब इच्छाएँ उसे उद्विग्न नहीं करतीं तब – **अग्नेरिव निरिन्धनाः** – इन्धनरहित अग्नि के समान, उसका हृदय शान्त हो जाता है।

ध्यान के अभ्यास हेतु चुना गया परिवेश न केवल निर्जन, अपितु पवित्र भी होना चाहिए। ऐसे स्थान को पवित्र नहीं माना जा सकता, जो स्वच्छ नहीं है तथा जहाँ साधु पुरुषों को सम्मानित नहीं किया जाता और इस कारण वह ध्यान के अभ्यास हेतु अनुकूल नहीं है। किसी स्थान की पवित्रता वहाँ के आध्यात्मिक स्पन्दनों की पवित्रता पर निर्भर करती है। योग की परम्परा बताती है कि प्रत्येक व्यक्ति निरन्तर अपने व्यक्तित्व के सूक्ष्म सार-कणों का विकिरण करता रहता है, जिन्हें तन्मात्राएँ कहते हैं और जो उस स्थान के परिवेश में स्थित रहती हैं, जहाँ कि वह अपना अधिकांश समय बिताता है। आध्यात्मिक स्पन्दनों के एकत्रित निधियों के कारण मन्दिर, पूजा-स्थल या तीर्थस्थान स्वाभाविक रूप से पवित्र होते हैं, अतएव ऐसे स्थान ध्यान के अभ्यास हेतु सर्वाधिक अनुकूल माने जाते हैं।

स्वामी विवेकानन्द भी अनुकूल परिवेश की जरूरत पर बल देते हुए कहते हैं – "तुममें से जिनको सुविधा हो, वे साधना के लिए यदि एक स्वतंत्र कमरा रख सकें, तो अच्छा हो। इस कमरे को सोने के काम में न लाओ। इसे पवित्र रखो। बिना स्नान किए और बिना शरीर-मन को शुद्ध किए इस कमरे में प्रवेश न करो। इस कमरे में सदा पुष्प और हृदय को आनन्द देनेवाले चित्र रखो। योगी के लिए ऐसे वातावरण में रहना बहुत उत्तम है। सुबह और शाम वहाँ धूप और चन्दन-चूर्ण आदि जलाओ। उस कमरे में किसी प्रकार का क्रोध, कलह और अपवित्र चिन्तन न किया जाय। तुम्हारे साथ जिनके भाव मिलते हैं, केवल उन्हीं को उस कमरे में प्रवेश करने दो। ऐसा करने पर शीघ्र ही वह कमरा सत्त्वगुण से पूर्ण हो जायेगा; यहाँ तक कि जब किसी प्रकार का दु:ख या संशय आए अथवा मन चंचल हो, तो उस समय उस कमरे में प्रवेश करते ही तुम्हारा मन शान्त हो जाएगा।

मन्दिर, गिरजाघर के निर्माण आदि का सच्चा उद्देश्य यही था। अब भी बहुत से मन्दिरों और गिरजाघरों में यह भाव देखने को मिलता है, परन्तु अधिकतर स्थलों में लोग इनका उद्देश्य भूल गए हैं। चारों ओर पवित्र चिन्तन के परमाणु सदा स्पन्दित होते रहने के कारण वह स्थान पवित्र ज्योति से भरा रहता है।'' लोगों का परम्परागत विश्वास है कि ध्यान का अभ्यास किसी एकान्त स्थान में हल्के प्रकाश या अन्धकार में करना चाहिए। परन्तु पूर्ण अनुकूल परिवेश किसी को भी प्राप्त नहीं होता है। योगी को अपने ही प्रयास से अपने आन्तरिक परिवेश का निर्माण कर लेना पड़ता है, ताकि वह बाह्य जगत् के विक्षेपों से अप्रभावित बना रह सके।

३. उपयुक्त समय

ध्यान की मन:स्थिति कुछ हद तक इसके अभ्यास के लिए चुने गए उपयुक्त समय पर निर्भर करती है। योग की परम्परा ध्यान के अभ्यास हेतु दिन तथा रात के निम्नलिखित समयों को सर्वाधिक उपयुक्त मानती है। (क) दिन और रात का सन्धि-काल अर्थात् ऊषा और गोधूलि का समय, जब रात का लोप तथा दिन का आगमन होता है और जब दिन का लोप तथा रात का आगमन होता है। (ख) ब्राह्म मुहूर्त अर्थात् सूर्योदय के एक घण्टे पूर्व का समय। (ग) मध्याह्न अर्थात् रात के दो अर्धांशों का सन्धि-काल। कहते हैं कि इन समयों पर मन एकाग्र तथा शुद्ध रहता है, क्योंकि उस समय मेरुदण्ड का आध्यात्मिक प्रवाह सामान्यत: सक्रिय रहता है। और द्वितीयत: श्वास नासिका के दोनों रन्ध्रों से चलती है, जो कि आन्तरिक शान्ति का द्योतक है। अन्य समय प्रकृति के स्पन्दनों में वृद्धि के अनुसार सुषुम्ना नाड़ी के दोनों तरफ स्थित इड़ा और पिंगला नाड़ियों में से कोई एक या दोनों सक्रिय रहती हैं और इस कारण श्वास केवल दाहिने या बाएँ नथुने से ही चलती है, जो कि मन की अस्थिरता का द्योतक है। योगी को चाहिये कि वह अपने श्वास-प्रश्वास के द्वारा सुषुम्ना नाड़ी का सावधानीपूर्वक निरीक्षण करे, यह सुनिश्चित करने के लिए कि जब इसकी दोनों नासिका-रन्ध्रों से समान भाव से श्वास चल रही है और ज्योंही ऐसे क्षण उपस्थित हों, त्योंही वह सारे क्रिया-कलापों को छोड़कर ध्यान में बैठ जाय। उसका मन नदी के समान है और उसमें भी, विशेषकर ध्यानाभ्यास के प्राथमिक चरणों में ज्वार तथा भाटे आते रहते हैं। पर अभ्यास के नियमित तथा स्थिर हो जाने के बाद इन ज्वार-भाटों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

ऐसा भी कहते हैं कि प्रत्येक तीर्थ-स्थान में प्रतिदिन कुछ ऐसे समय होते हैं, जब उसके चारों ओर आध्यात्मिक भावधारा बहती है और उन क्षणों में ध्यान का अभ्यास, साधक के मन की तल्लीनता में सहायता करता है। परम्परागत हिन्दू मत के अनुसार कुछ ऐसी तिथियाँ हैं, जो ध्यान के अभ्यास के लिए विशेष रूप से अनुकूल हैं – यथा – प्रतिपदा, पूर्णिमा, अष्टमी, (एकादशी) तथा अन्य विशेष धार्मिक पर्वों की तिथियाँ।

४. अनुकूल शारीरिक अवस्था

यदि साधक की शारीरिक अवस्था अनुकूल न हो, तो उसमें ध्यान की मन:स्थिति का निर्माण नहीं होता। शरीर तथा मन एक दूसरे के साथ अन्तरंग रूप से जुड़े हुए हैं, अत: जब शरीर अस्वस्थ रहता है, तो मन भी विक्षिप्त हो जाता है। सन्तुलित आहार, व्यायाम तथा विश्राम के द्वारा शरीर के उचित स्वास्थ्य को बनाए रखने हेतु अत्यन्त सावधानी बरतने की आवश्यकता है। थोड़ा-सा भी अति भोजन या उपवास या अनिद्रा या शरीर के तीन तत्त्वों (वात, कफ व पित्त) के बीच जरा-सा भी असन्तुलन शारीरिक अवस्था को ध्यान के प्रतिकूल बना देता है। अति श्रम के कारण शरीर अत्यधिक थका हो या मानसिक विक्षेपों के कारण तनावग्रस्त या उद्विग्न हो, तो ध्यान का कोई भी प्रभावी अभ्यास सम्भव नहीं है। शरीर को स्वस्थ, तरोताजा और तनावरहित होना चाहिए। आसन की स्थिरता भी ध्यान के अभ्यास में एक महत्त्वपूर्ण पूर्वापेक्षा है। यदि साधक की शारीरिक अवस्था प्रतिकूल है, तो उसे ज्यादा ध्यान न करने की सलाह दी जाती है। बलपूर्वक ध्यानाभ्यास और ध्यान के आसन पर निरन्तर बैठे रहने के फलस्वरूप मस्तिष्क गर्म हो जाता है।

अनुकूल शारीरिक अवस्था केवल उचित आहार, व्यायाम तथा विश्राम पर ही नहीं, अपितु आदतों की पवित्रता पर भी निर्भर करती है। साधक को तीन गुणों से सम्पन्न होना चाहिए – (क) चरित्र की पवित्रता (ख) लक्ष्य के प्रति दृढ़ता और (ग) शारीरिक बल। पहले के अभाव में बाकी दो की उपलब्धि नहीं होती। ध्यान की मनोदशा को प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति को यह सावधानी बरतनी होगी कि वह अति भोजन या अति उपवास या किसी तरह के अतिभोग के द्वारा अपने शरीर को अति पीड़ित न करे। वह व्यक्ति जो बिना किसी विचार के खाता है, उसका जीवन अव्यवस्थित होता है, वह कामनाओं, सनकों का दास होता है और उसमें लक्ष्य के प्रति निष्ठा बनाये रखने की क्षमता नहीं होती। ऐसा व्यक्ति अपनी आधी ऊर्जा को भोजन पचाने में ही खपा देता है और ८-१० घण्टे तक की निद्रा भी उसके लिए पूरी नहीं पड़ती। जो थोड़ी-सी ऊर्जा उसमें बच रहती है, वह व्यर्थ के गप्पों तथा निरर्थक क्रियाओं में बरबाद हो जाती है और ध्यानाभ्यास के लिए जरा-सी भी ऊर्जा नहीं बचती। तो फिर इसमें आश्चर्य ही क्या, यदि ऐसे लोग ध्यान के लिए सच्ची मन:स्थिति नहीं बना पाते और यदि कभी वे बलपूर्वक ध्यान के लिए बैठते भी हैं, तो जँभाई लेते रहते हैं, निद्रा के वशीभूत हो जाते हैं।

❖ (शेष आगामी अंक में) ❖

कर्मयोग – एक चिन्तन (२२)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने रामकृष्ण मिशन आश्रम, राजकोट, गुजरात में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

जब स्वामी विवेकानन्द लगभग ४ वर्ष यूरोप, अमेरिका में रहकर लौट रहे थे, तो इग्लैंड में पत्रकार ने उनसे पूछा – स्वामीजी आपका देश कौन-सा है? स्वामीजी ने तत्काल उत्तर दिया – सारा विश्व ही मेरा देश है। तब पत्रकार को इस प्रश्न से उनको पकड़ने का कुछ नहीं मिला। उसने फिर पूछा – स्वामीजी आपका धर्म कौन-सा है? स्वामीजी ने पुन: तत्काल कहा – सत्य ही मेरा धर्म है।

जब हमको ज्ञान होगा, तब हमारा अहंकार चला जायेगा, विमूढ़ता चली जायेगी। 'विश्वं भवति एक नीड़म्' – उसके लिए सारा विश्व चीड़ियाँ के एक घोसले के समान हो जाता है।

भगवान कहते हैं इसका सारा सम्बन्ध प्रकृति से है। सामान्य स्थिति में विश्वास नहीं होता कि प्रकृति कैसे करती है। आज मैं एक डॉक्टर बेटी से बात कर रहा था। उसने विदेश में जाकर लीवर विषय पर विशेष अध्ययन किया। जैसे किडनी बदल दी जाती है, वैसे लीवर भी बदल दिया जाता है। लीवर तो जोड़ देते हैं, लेकिन बाकी जो रक्त-प्रवाह का या जुड़ने का काम है, एनजाइम्स जो लीवर में भरते हैं, वह तो प्रकृति करती है। दूसरा उदाहरण भोजन करने का काम हमने किया, पचाने का काम आप–हम करते हैं क्या? यह काम प्रकृति करती है। सामान्यत: हम एक-दूसरे से पूछते हैं – आपकी प्रकृति कैसी है, प्रकृति यदि मेरे पेट में पाचक रस निकालना बंद कर दे, तो फिर भोजन भी मैं नहीं पचा सकता, क्योंकि भोजन पचाने में मेरा कोई हाथ नहीं है। यह प्रकृति का धर्म है, वही वह काम करती है। प्रकृति ही सब काम करती है, हम यह समझ नहीं पाते। क्योंकि जन्म-जन्मान्तर के संस्कार हैं।

इसलिये आचार्यगण हमारा स्वरूप याद दिलाते रहते हैं कि तुम वही हो – तत्त्वमसि। भगवान शंकराचार्य जी निर्वाणषट्कम् में कहते हैं – 'मनोबुद्ध्यहंकार चित्तानि नाहं ... आदि।

जब हम द्रष्टा के रूप में देखना या विचार करना शुरू करेंगे, तब वस्तु और अधिक स्पष्ट होगी। यदि आप रोज २०-२५ मिनट यह देखने का अभ्यास करें कि आपके मन में क्या-क्या विचार आते हैं, तो यह बात समझ में आ जायेगी कि विचार मुझसे भिन्न हैं। थोड़ा अभ्यास जिसका हो जायेगा, उसे यह भी समझ में आयेगा कि शरीर भी मुझसे भिन्न है, मैं शरीर का द्रष्टा हूँ। मैं नाम-रूपधारी शरीर मात्र नहीं हूँ। जन्म हुआ, तो माँ-बाप ने एक नाम दिया, स्कूल में मित्रों ने दूसरा नाम दिया। फिर बाबाजी हो गये तो ब्रह्मचर्य का एक नाम मिला, संन्यास का एक दूसरा ही नाम हो गया। अब अंत समय तक वही नाम रहेगा। आप उन सब नामों को देख सकते हैं। ये इतनी व्यावहारिक बात है कि यदि मनुष्य इस द्रष्टा-भाव का अभ्यास करे, तो बहुत सी बात सहजता से समझ में आ जायेगी। एक बेटी पूछ रही थी कि बहुत क्रोध आता है, क्या करें? ये सबकी समस्या है। क्रोध या कोई भी प्रकार का भाव आने पर उससे हम एकाकार हो जाते हैं। जब क्रोध से हम एक हो जाते हैं, तो क्रोध हमारा काम तमाम कर देता है और हम कुछ देर के लिये मरने के समान हो जाते हैं। फिर बाद में ऐसा लगता है कि ऐसा काम तो मैंने कभी नहीं किया था, ऐसा क्यों कर दिया? मेरी कभी ऐसी इच्छा नहीं थी कि क्रोध आया, तो गिलास पटककर तोड़ दिया। अब आप सोचें कि ऐसा क्यों हुआ? क्योंकि हम अपने वश में नहीं हैं। अहंकार जब हम पर प्रबल हो जाता है, तभी जीवन में वासना प्रबल हो जाती है। मनुष्य अहंकारी हुए बिना वासनायुक्त हो ही नहीं सकता है। इस सूत्र को सदैव ध्यान में रखना चाहिए। अहंकार से ही सभी वासनायें उत्पन्न होती हैं। यदि व्यक्ति अहंकार से मुक्त है, तो वासना उसे छू नहीं सकती, यह जीवनमुक्ति की अवस्था है। किन्तु उस अवस्था को प्राप्त करने के पूर्व बहुत से स्तर हैं। जिन स्तरों का हम अभ्यास करके अहंकार को दबाकर सुखी रह सकते हैं। बहुत बार ऐसा होता है, कहीं हम विवाह में, या पार्टी में गये और किसी ने हमको तीखी बात कह दी, तो नींद हराम हो गयी। आप लोग विभिन्न ड्रेस पहनकर पार्टी में जाते हैं। कोई लड़की पार्टी में गई, दिल्ली से बहुत अच्छा ड्रेस लेकर आयी। जिसको पहनकर आइने के सामने देखा, तो स्वयं मुग्ध हो गयी। अब बाबाजी जैसा कोई निरस व्यक्ति ने देखा, तो उसको क्या मालूम कि तुम्हारा दस हजार का सूट है। देखने में तो लगता है कि घर पोछने वाले कपड़े का सूट बना है। यदि ऐसा किसी ने पार्टी में बहुत से लोगों के सामने कह दिया, तो सालभर तक उसकी नींद हराम हो जायेगी कि बाबा जी ने ऐसा मेरे कपड़े के बारे में कहा। अगर यह बात तीन चार साल की बच्ची या बच्चा कहता कि दीदी या मौसी तुम्हारा कपड़ा एकदम रद्दी है, तो उसको इतना बुरा नहीं लगता। क्योंकि उसे मालूम है कि बच्चा रद्दी क्या है, उसे नहीं जानता। क्योंकि उसको अहंकार

नहीं है। उसने कहीं 'रद्दी' शब्द सुना है, इसलिये बोलता है। लेकिन यह बात किसी वयस्क व्यक्ति ने कही इसलिये उसे दुख होगा। यह व्यावहारिक बात है कि अहंकार जितना प्रबल होगा, घाव या दु:ख उतना ही लम्बा होगा, चोट उतनी ही गहरी होगी। भीम को सारे जीवन उनके अहंकार के कारण दु:ख हुआ था, उन्हें चोट लगी थी। जब दु:शासन की छाती फाड़कर उसका खून पिया, द्रोपदी के केश दु:शासन के रक्त से धोये, तब कुछ दुख कम हुआ।

हम इन कथाओं को ऐसे ही पढ़कर उड़ा देते हैं। किन्तु ये कथायें अत्यन्त मनोवैज्ञानिक हैं। व्यक्ति के चरित्र के लिये लिखी गयी हैं। अहंकार व्यक्ति को बड़ा कष्ट देता है और अहंकार जब न रहे, तो कष्ट नहीं देता है।

मैं रायपुर से राजकोट रेलगाड़ी से आ रहा था। एक परिवार सामने बैठा था। उनकी तीन छोटी-छोटी बच्चियाँ थीं। रात में सोने के समय, वह छोटी बच्ची मुझे कहती है, सुनिये, रात में हमारा पानी नहीं लेना। मैंने उससे कहा, ठीक है बेटा, नहीं लूँगा।' उसको विश्वास नहीं हुआ, संतोष नहीं हुआ, तो फिर से कहने लगी, देखो हमारा पानी मत छूना। ठीक है, प्रॉमिस ऐसा कहने लगी। उसके साथ जो उसके नाना या नानी हैं, वे अगर मुझसे यह बात कहते, तो मैं सोचता कि क्या ये मुझे चोर समझते हैं? क्या मैं इनका पानी पी लेता? उनके साथ हम झगड़ने लगते। किन्तु बच्चे के अहंकार से हमारे अहंकार का टकराव नहीं हुआ। अब आप सब सोचकर देखें, अगर हमारे अहंकार का टकराव न हो, तो दु:ख कहाँ है?

मैं आपसे निवेदन करना चाहता हूँ कि भगवान ने हमें यहाँ साधना के सूत्र दिये हैं। मूर्ख व्यक्ति अपने को कर्त्ता समझता है और इसके कारण उसका फल वह भोगता रहता है। परिवर्तन कर्म में करने की आवश्यकता नहीं है, परिवर्तन कर्ता में करने की आवश्यकता है। कर्म अपने आप में जड़ है। अपने कर्त्तृत्व-अभिमान में परिवर्तन करना पड़ेगा। अहंकार मिट जाने से कितना सुख होगा, आप हम सभी उसका अनुभव करेंगे।

श्रीरामकृष्ण एक दिन गिरीश घोष के घर गये। वहाँ बाजू में ही बलराम बोस का घर है। एक दिन शाम को श्रीरामकृष्ण बलराम बोस के घर आये। वहाँ बहुत कीर्तन–भजन हुआ। वे तो समाधि में डूब जाते थे। बलराम बाबू ने भोजन का प्रबन्ध किया। इधर गिरीश घोष सोच रहे हैं कि अब श्रीरामकृष्ण मेरे घर जरूर आयेंगे। उनका श्रीरामकृष्ण से सम्बन्ध हुये ५-६ महीने हुये हैं, । जिनको शराब पीने की आदत है, गुटका खाने की आदत है, वे लोग यदि खाली रहें, तो अधिक पीने-खाने लगते हैं। प्रतीक्षा करनी हो, तो और अधिक खाने-पीने लगते हैं। गिरीश बैठे-बैठे श्रीरामकृष्ण की राह देख रहे हैं और शराब पीते जा रहे हैं। श्रीरामकृष्ण लगभग रात के दस बजे गिरीशचन्द्र के घर पहुँच गये। सेवक हृदू साथ में है। उसका एकदम ऊँचा-पूरा बलिष्ठ शरीर है, किन्तु, भावनाहीन शुष्क है। यदि आप अहंकार विमूढ़ात्मा के प्रतीक को देखना चाहते हों, तो हृदयराम मुखोपाध्याय को देखें। यह कई वर्षों तक उनकी सेवा किया, किन्तु अन्त में उसका जीवन दुखपूर्ण रहा। हृदय भी ठाकुर के साथ था। ठाकुर गरीश के घर जाकर बैठ गये। गिरीश ने तब तक भोजन नहीं किया था। गिरीश ने सोचा कि ठाकुर आये हैं, तो पहले उनको भोजन खिला दूँ और बाद में मैं खाऊँगा।

गिरीश ने कहा – ठाकुर, तुम बैठो, मैं तुमको खिलाऊँगा। ठाकुर ने कहा – अरे, गिरीश, मैं बलराम के घर गया था, वहाँ अभी भोजन करके आया हूँ, अभी मैं नहीं खाऊँगा।

अब गिरीश तो नशे में मत्त था। इतना सुनना था कि वह ठाकुर को गालियाँ देने लगा – 'साला, भिखारी ब्राह्मण, मैं कायस्थ हूँ, इसलिये तू मेरे घर नहीं खायेगा, निकल मेरे घर से। ठाकुर हृदय के साथ चले गये। किन्तु दक्षिणेश्वर पहुँचने के बाद ठाकुर को नींद नहीं आ रही है। हृदय को भी नींद नहीं आ रही है। वह सोच रहा है कि यदि मामा नहीं होते, तो मैं गिरीश का मुँह तोड़ देता। ठाकुर दु:ख कर रहे हैं कि बेचारा गिरीश होश में नहीं था। किसी तरह सुबह हुई। ठाकुर माँ का नाम कर रहे थे। उन्होंने हृदय से कहा – अरे हृदू, एक गाड़ी लेकर आना। हृदय ने पूछा – कहाँ जाना है मामा? ठाकुर ने कहा – 'गिरीश के घर जाऊँगा। हृदू कहता है – गिरीश के घर जाना है? क्यों उसने तो आपको इतनी गालियाँ देकर घर से निकाल दिया और तुम बोलते हो कि उसी के घर जायेंगे।' ठाकुर कहते हैं – अरे, उस समय वह होश में नहीं था, अभी चलो। हृदू जानता है कि मामा को कोई ना नहीं कह सकता। वे दोनों गिरीश के घर पहुँचे। जब गिरीश का नशा कम हुआ, तो वह दु:ख से कातर होकर रोने लगा। उसकी छाती फट रही है। उसकी पत्नी भी उसे कह रही है कि तुमने ठाकुर को क्या-क्या कह कर अपमानकर घर से निकाल दिया। यह सब सुनकर वह इतना व्याकुल होकर रो रहा है, तभी उसने ठाकुर की आवाज सुनी। ठाकुर बोल रहे हैं, अरे गिरीश, तुम कहाँ हो? गिरीश दौड़कर आया और ठाकुर के चरणों में गिरकर प्रणाम किया। वह कहने लगा, 'ठाकुर, तुम सचमुच अवतार हो। भगवान छोड़कर मनुष्य की सामर्थ्य नहीं कि इतना अपमान सहकर वह फिर से अपमान करने वाले के पास आ जाये। अभी पिछली रात मैंने तुमको इतनी गाली दी, अपमान किया, फिर भी तुम इतने प्रेम से मेरे घर आये हो। यह है निरहंकारिता का प्रभाव !

❖ (क्रमशः) ❖

कठोपनिषद्-भाष्य (३४)

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। हजारों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा उससे सम्बन्धित गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्रीशंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुनः स्थापना हेतु इन पर सहज-सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा किया हुआ कठोपनिषद्-भाष्य का सरल अनुवाद प्रस्तुत है। भाष्य में आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया गया है और कठिन सन्धियों का विच्छेद कर सरल रूप देने का प्रयास किया गया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को तात्पर्य समझने में सुविधा हो। –सं.)

निरस्त-अशेष-विशेष-व्यापि-ब्रह्म-आत्म-प्रतिपत्त्या प्रभिन्न-समस्ता-विद्या-आदि-ग्रन्थेः जीवत एव ब्रह्म-भूतस्य विदुषो न गतिः विद्यते इति उक्तम् 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' इति उक्तत्वात्। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति। ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (वृ. उ. ४/४/६) इति श्रुति-अन्तरात् च।

भाष्य-अनुवाद – सर्व प्रकार के विशेषणों से रहित सर्वव्यापी ब्रह्म का अन्तरात्मा के रूप में अनुभव करने के फलस्वरूप, जिसकी प्रेयस् की कामनाएँ आदि सारी ग्रन्थियाँ पूरी तौर से नष्ट हो गयी हैं और जो अपने जीवनकाल में ही ब्रह्म-स्वरूप हो जाते हैं, ऐसे ज्ञानी का आवागमन नहीं होता, यह कहा जा चुका है, 'इस शरीर में ही ब्रह्म के साथ अभिन्नता का बोध कर लेता है।' दूसरी श्रुति में भी कहा गया है, 'उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते। ब्रह्म-स्वरूप होकर वह ब्रह्म में ही लीन हो जाता है।'

ये पुनः मन्द-ब्रह्मविदः विद्यान्तर-शीलिनः च ब्रह्मलोक-भाजो ये च तत् विपरीताः संसार-भाजः तेषाम् एव गति-विशेष उच्यते – प्रकृत-उत्कृष्ट-ब्रह्मविद्या-फल-स्तुतये। किं च अन्यत् अग्निविद्या पृष्टा प्रत्युक्ता च। तस्याः च फलप्राप्ति-प्रकारो वक्तव्य इति मन्त्र-आरम्भः।

फिर भिन्न विद्या (उपासना तथा ध्यान) का अनुशीलन करनेवाले जो मन्द श्रेणी के ब्रह्मवेत्ता हैं, वे ब्रह्मलोक में जाने के अधिकारी हैं और जो इसके विपरीत संसार में गमन के उपयुक्त हैं, सच्चे उत्कृष्ट ब्रह्मविद्या की स्तुति के उद्देश्य से, अब उन्हीं की विशेष गति का वर्णन किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त (नचिकेता द्वारा) अग्निविद्या के विषय में पूछा और बताया गया था। उसकी भी फलप्राप्ति के प्रकार को बताने के लिये यह मंत्र आरम्भ किया जा रहा है।

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्
तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्त्वमेति
विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ।। २/३/१६

अन्वयार्थ – **शतं च** एक सौ और **एका च** एक **नाड्यः** नाड़ियाँ **हृदयस्य** हृदय से (निकली हैं); **तासाम्** उनमें से **एका** एक (सुषुम्ना) नाड़ी **मूर्धानम् अभिनिःसृता** ब्रह्मरन्ध्र का भेदन करके निकली है; (मृत्यु के समय) **तया** उस नाड़ी के सहारे **उर्ध्वम्** ऊर्ध्व, ऊपर की ओर **आयन्** (सूर्यमार्ग से) गमन करके **अमृतत्वम्** (आपेक्षिक) अमरत्व की **एति** प्राप्ति होती है; **विष्वक्** विभिन्न ओर जानेवाली **अन्याः** अन्य नाड़ियाँ **उत्क्रमणे भवन्ति** संसार-प्राप्ति का कारण होती हैं।

भावार्थ – एक सौ और एक नाड़ियाँ हृदय से (निकली हैं); उनमें से एक (सुषुम्ना) नाड़ी ब्रह्मरन्ध्र का भेदन करके निकली है; (मृत्यु के समय) उस नाड़ी के सहारे ऊर्ध्व, ऊपर की ओर (सूर्यमार्ग से) गमन करके (आपेक्षिक) अमरत्व की प्राप्ति होती है; विभिन्न ओर जानेवाली अन्य नाड़ियाँ संसार-प्राप्ति का कारण होती हैं।

भाष्यम् – तत्र – शतं च शत-संख्याका एका च सुषुम्ना नाम पुरुषस्य हृदयात् विनिःसृता नाड्यः शिराः तासां मध्ये मूर्धानं भित्त्वा अभिनिःसृता निर्गता एका सुषुम्ना नाम। तया अन्तकाले हृदये आत्मानं वशीकृत्य योजयेत्। तया नाडी-ऊर्ध्वम् उपरि आयन् गच्छन् आदित्य-द्वारेण अमृतत्वम् अमरण-धर्मत्वम् आपेक्षिकम्। 'आभू-संप्लवं स्थानम् अमृतत्वं विभाव्यते' (वि.पु.२/८/९७) इति स्मृतेः।

भाष्य-अनुवाद – पुरुष के हृदय से सौ नाड़ियाँ या शिराएँ और सुषुम्ना नाम की एक (कुल १०१ नाड़ियाँ) निकली हैं। उनमें से सुषुम्ना नाम की एक नाड़ी मूर्धा अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र को भेदकर निकलती है। मृत्यु के समय हृदय में मन को वशीभूत करके उस (सुषुम्ना) के साथ जोड़ना चाहिये। इसके बाद उस नाड़ी के द्वारा ऊपर की ओर सूर्यमार्ग (उत्तरमार्ग) से अमृतत्व अर्थात् आपेक्षिक अमरता को प्राप्त होता है; क्योंकि स्मृति में लिखा है, 'सभी प्राणियों का लय होने तक जिस स्थान (ब्रह्मलोक) में रहता है, उसे अमृतत्व कहते हैं।'

ब्रह्मणा वा सह कालान्तरेण मुख्यम् अमृतत्वम् एति भुक्त्वा भोगान् अनुपमान् ब्रहलोक-गतान्। विष्वङ् नाना-विध-गतयः अन्या नाड्यः उत्क्रमणे निमित्तं भवन्ति संसार-प्रतिपत्त्यर्था एव भवन्ति इत्यर्थः।। २/३/१६ (११७)

अथवा वह ब्रह्मलोक के अनुपम सुखों का भोग करने के बाद यथाकाल वह मुख्य अमृतत्व की प्राप्ति कर लेता है।

(सुषुम्ना के अतिरिक्त) विभिन्न दिशाओं में जानेवाली अन्य नाड़ियों से (प्राणों के) उत्क्रमण करने पर, वह संसार (आवागमन) की प्राप्ति का ही हेतु बनता है। ❖ (क्रमशः) ❖

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

जीवन्मुक्त के लक्षण –

गुणदोषविशिष्टेऽस्मिन्स्वभावेन विलक्षणे।
सर्वत्र समदर्शित्वं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ।।४३३।।

अन्वय – अस्मिन् गुण-दोष-विशिष्टे स्वभावेन विलक्षणे सर्वत्र समदर्शित्वं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम्।

अर्थ – गुण-दोषों से युक्त एक-दूसरे से भिन्न (वैचित्र्यपूर्ण) स्वभाव वाले इस संसार में सर्वत्र समत्व (ब्रह्मरूप) देखना – यह जीवन्मुक्त का लक्षण है।

इष्टानिष्टार्थसम्प्राप्तौ समदर्शितयाऽऽत्मनि।
उभयत्राविकारित्वं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ।।४३४।।

अन्वय – इष्ट-अनिष्ट-अर्थ-संप्राप्तौ समदर्शितया उभयत्र आत्मनि अविकारित्वं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम्।

अर्थ – प्रिय या अप्रिय – जो भी प्राप्त होता है, दोनों अवस्थाओं में मन की समदृष्टि से निर्विकार बने रहना – यह जीवन्मुक्त का लक्षण है।

ब्रह्मानन्द-रसास्वादासक्त-चित्ततया यतेः।
अन्तर्बहिरविज्ञानं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ।।४३५।।

अन्वय – ब्रह्मानन्द-रसास्वाद-आसक्त-चित्ततया यतेः अन्तः बहिः अविज्ञानं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम्।

अर्थ – चित्त के ब्रह्मानन्द के रस का आस्वादन लेने में ही मग्न रहने के कारण भीतर और बाहर का सब कुछ भूल जाना – यह जीवन्मुक्त यति (संन्यासी) का लक्षण है।

देहेन्द्रियादौ कर्तव्ये ममाहंभाववर्जितः।
औदासीन्येन यस्तिष्ठेत्स जीवन्मुक्तलक्षणः।।४३६।।

अन्वय – यः देह-इन्द्रिय-आदौ कर्तव्ये मम-अहं-भाव-वर्जितः औदासीन्येन तिष्ठेत् सः जीवन्मुक्तलक्षणः।

अर्थ – जो अपनी देह, इन्द्रियों आदि तथा कर्तव्य के विषय में भी अहं-मम ('मैं'-'मेरा') का भाव छोड़कर उदासीनता-पूर्वक रहता है, वह जीवन्मुक्ति के लक्षणों वाला है।

विज्ञात आत्मनो यस्य ब्रह्मभावः श्रुतेर्बलात्।
भवबन्धविनिर्मुक्तः स जीवन्मुक्तलक्षणः।।४३७।।

अन्वय – श्रुतेः बलात् आत्मनः ब्रह्मभावः यस्य विज्ञातः भव-बन्ध-विनिर्मुक्तः सः जीवन्मुक्तलक्षणः।

अर्थ – श्रुति या गुरु से महावाक्य-श्रवण के द्वारा जिसे अपने ब्रह्मभाव की अनुभूति हो गयी है और जो संसार-रूप बन्धन से मुक्त हो चुका है, वह जीवन्मुक्ति के लक्षणवाला है।

देहेन्द्रियेष्वहंभाव इदंभावस्तदन्यके।
यस्य नो भवतः क्वापिं स जीवन्मुक्त इष्यते ।।४३८।।

अन्वय – यस्य देह-इन्द्रियेषु अहं-भावः तत्-अन्यके इदं-भावः क्व अपि भवतः नो, सः जीवन्मुक्तः इष्यते।

अर्थ – जिसे देह, इन्द्रियों आदि में 'अहम्' ('मैं') का भाव और अन्य वस्तुओं में 'इदम्' ('यह') का भाव कभी भी नहीं होता, वह जीवन्मुक्त माना जाता है।

न प्रत्यग्ब्रह्मणोर्भेदं कदापि ब्रह्मसर्गयोः।
प्रज्ञया यो विजानाति स जीवन्मुक्तलक्षणः।।४३९।।

अन्वय – यः प्रज्ञया प्रत्यग्-ब्रह्मयोः ब्रह्म-सर्गयोः भेदं कदा अपि न विजानाति सः जीवन्मुक्तलक्षणः।

अर्थ – जो अपनी 'प्रज्ञा' के द्वारा अपनी अन्तरात्मा तथा ब्रह्म के बीच और ब्रह्म तथा सृष्टि के बीच – कभी भी भेद नहीं देखता, वह जीवन्मुक्ति के लक्षणों वाला है।

साधुभिः पूज्यमानेऽस्मिन्पीड्यमानेऽपि दुर्जनैः।
समभावो भवेद्यस्य स जीवन्मुक्तलक्षणः।।४४०।।

अन्वय – अस्मिन् साधुभिः पूज्यमाने, दुर्जनैः पीड्यमाने अपि यस्य समभावः भवेत् सः जीवन्मुक्तलक्षणः।

अर्थ – इस शरीर की सज्जन लोग पूजा कर रहे हों या दुर्जन लोग कष्ट दे रहे हों – (दोनों स्थितियों में) जिसका समभाव (हर्ष-विषाद-राहित्य) बना रहता है, वह जीवन्मुक्ति के लक्षणों वाला है।

यत्र प्रविष्टा विषयाः परेरिता
नदीप्रवाहा इव वारिराशौ।
लिनन्ति सन्मात्रतया न विक्रिया-
मुत्पादयन्त्येष यतिर्विमुक्तः।।४४१।।

अन्वय – वारिराशौ नदीप्रवाहाः इव, यत्र पर-ईरिताः विषयाः प्रविष्टाः सत्-मात्रतया लिनन्ति, विक्रियाम् न उत्पादयन्ति – एषः यतिः विमुक्तः।

अर्थ – समुद्र में नदियों के प्रवाह के समान जिस ज्ञानी में दूसरों द्वारा प्रेरित (निन्दा-स्तुति, प्रिय-अप्रिय आदि) विषय प्रविष्ट होकर ब्रह्म वस्तु में विलीन हो जाते हैं, किसी विकार की सृष्टि नहीं करते, ऐसा यति (सन्त) मुक्त हो चुका है।

विज्ञातब्रह्मतत्त्वस्य यथापूर्वं न संसृतिः।
अस्ति चेन्न स विज्ञातब्रह्मभावो बहिर्मुखः।।४४२।।

अन्वय – विज्ञात-ब्रह्म-तत्त्वस्य यथापूर्वं न संसृतिः (भवति), चेत् अस्ति सः न विज्ञात-ब्रह्म-भावः (तु) बहिर्मुखः (अस्ति)।

अर्थ – जिस व्यक्ति को ब्रह्मतत्त्व का (आत्म-स्वरूप से) साक्षात्कार हो गया है, उसके लिये पहले (अज्ञान काल) के समान संसार के विषयों में रुचि या अरुचि नहीं रह जाती। (पर) यदि संसार में ऐसी प्रवृत्ति देखने में आती है, तो फिर उसे ब्रह्मभाव का बोध नहीं हुआ है; वह तो बहिर्मुखी है।

❖ (क्रमशः) ❖

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

२५२. धर्म अतिथि सेवा सम नाहीं

उज्जैन में दीनबन्धु दास नामक एक सन्त हो गये हैं। एक बार उनके युवा पुत्र की एक विषैले सर्प के डँसने से मृत्यु हो गई। इससे उनके परिवार के लोगों को गहरा आघात पहुँचा और वे शोक करने लगे। इतने में द्वार पर 'ॐ नारायण हरि' की आवाज सुनाई दी। दीनबन्धु दास जब द्वार पर गए, तो उन्हें एक परम तेजस्वी गैरिक-वस्त्रधारी संन्यासी दिखाई दिये। उन्होंने अपने भूखे होने की बात बताकर दीनबन्धु दास से भिक्षा के लिये याचना की। उन्होंने संन्यासी को आदरपूर्वक बरामदे में बिठाया और पीने को जल दिया। फिर अन्दर जाकर पत्नी से बोले, "घर में अतिथि पधारे हैं। उनके भोजन की व्यवस्था करना हमारा परम कर्त्तव्य है। शव को ढककर तुम और बहू भोजन बनाने में लग जाओ।"

भोजन तैयार होने पर दीनबन्धु दास ने उसे एक थाली में परोसकर संन्यासी को उसे ग्रहण करने का अनुरोध किया। संन्यासी बोले, "मैं दूसरों को भूखा रखकर भोजन नहीं करता। आप सबको भी मेरे साथ ही भोजन करना होगा।"

सबकी थालियाँ परोसी गईं और वे भोजन के लिए आ पहुँचे। संन्यासी ने सबकी ओर देखते हुए कहा, "मैंने सुना था कि आपका एक पुत्र भी है, उसे भी भोजन के लिए बुलाइये। तब उन्हें सर्पदंश से पुत्र की मृत्यु होने की बात बतानी पड़ी। यह सुनते ही संन्यासी ने क्रोधित होकर कहा, "आप तो बड़े निष्ठुर हो। घर में शव पड़ा है और आप भोजन करने के लिये तैयार हो गए। जब तक पुत्र जीवित था, तब तक ममता दिखाते थे। मृत्यु होने पर आप लोगों को उसका विस्मरण हो गया।" फिर उन्होंने विधवा बहू की भी भर्त्सना की। बहू बोली, "घर में आया हुआ अतिथि भगवान का रूप होता है। उसे भोजन देना और सेवा करना हमारा धर्म है। मेरे पति तो इस संसार में नहीं रहे। वे लौट कर आ नहीं सकते। ईश्वर की इच्छा मानकर और शोक को रोककर अतिथि का सत्कार करना हमारा परम कर्त्तव्य बनता है।" संन्यासी ने सुना, तो वे निरुत्तर हो गए। वे अन्दर गए और उन्होंने शव पर से ज्योंही चादर हटाई, पुत्र अँगड़ाइयाँ लेते हुए उठ खड़ा हुआ। संन्यासी ने उसे बाहर लाकर कहा, "दुख-ताप इस नश्वर संसार की देन हैं। किसी भी वस्तु को 'मेरा' कहकर उस से ममत्व स्थापित करना मनुष्य की भूल है। ममता का अर्थ है बन्धन और मेरा कहना ही बन्धन का कारण है, जब तक मनुष्य मोह-माया रूपी बन्धन से मुक्त नहीं होता, तब तक उसे शाश्वत सुख और अक्षय शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती।" फिर सबके साथ भोजन करने के बाद उन संन्यासी ने विदा ली।

२५३. करत-करत अभ्यास के मन आवे बस माँहि

सन्त रामदास के पास एक व्यक्ति आया और बोला, "यद्यपि मैं निर्जन स्थल में साधना करता हूँ, किन्तु मन में अनेक विचार उठने से वह विचलित होता है। कृपया कोई उपाय बताएँ, जिससे मैं निर्विकार होकर साधना कर सकूँ?"

रामदासजी ने कहा, "जप, तप, नियम, साधना आदि आसानी से नहीं सधते। मन बड़ा ही चंचल है। वह साधना-रत व्यक्ति को अलग-अलग विचारों में उलझाकर विचलित करता रहता है। इसका उपाय है मन पर नियंत्रण रखना। और मनोनिग्रह अभ्यास पर निर्भर करता है। यह इतना सरल नहीं है, बल्कि बारम्बार प्रयास के द्वारा ही सम्भव है। परन्तु सन्त-महात्माओं के लिए यह सहज-साध्य है। जब किसी व्यक्ति को बहुत भूख लगती है और वह उसे रोक नहीं पाता और जब तक उसके पेट की ज्वाला का शमन नहीं होता, तब तक उसका मन अस्थिर रहता है। इसके विपरीत सन्त-महात्मा उदर-भरण को यज्ञ-कर्म मानते हैं इसलिए उनका मन स्थिर रहता है। निरन्तर साधना करते रहने से उन्हें जब विश्रान्ति की इच्छा होती है, या नींद घेरने लगती है, तो वे सारे अंगों को शिथिल कर देते हैं। उस समय भी वे विचलित नहीं होते। उन्हें बाह्य जगत् का विस्मरण मात्र रहता है। पर शरीर और मन में वे कोई दरार पड़ने नहीं देते। दरार पड़ना ही साधना का विक्षेप है। मन को विशुद्ध बनाये रखने से ही साधना सधती है। आत्म-संयम, आत्म-अनुशासन और इन्द्रिय-निग्रह कर पाने वाला व्यक्ति ही मन को नियंत्रित कर सकता है, जिससे उसकी साधना में कोई व्यवधान नहीं आ पाता।"

युवा व्यक्तित्व विकास संगठन, रायपुर

छत्तीसगढ़ के झलप, देवभोग, नारायणपुर तथा म.प्र. के डिंडोरी जिले के कुकर्रामठ और खाम्हा के विभिन्न विद्यालयों में 'विवेकानन्द भाषण', नृत्य और अन्य प्रतियोगितायें आयोजित की गयीं। सबको स्वामीजी की पुस्तकें वितरित की गयीं तथा विजेताओं को पुरस्कार प्रदान किये। नारायणपुर में २८ अप्रैल को जिलास्तरीय विवेकानन्द सामान्य ज्ञान प्रतियोगिता का आयोजन किया गया, जिसमें ग्रामीण अंचलों के ३८० बच्चों ने भाग लिया। प्रथम पुरस्कार ५००१/-रु., द्वितीय, ३००१/- रु. और तृतीय १५०१/- रु. प्रदान किये गये।

छत्तीसगढ़ के दुर्ग, भिलाई, महासमुन्द, रायपुर, बिलासपुर, चाँपा, कोरबा, अंबिकापुर और अन्य बहुत से शिक्षा-संस्थानों एवं स्वयंसेवी संस्थाओं के द्वारा युवकों के व्यक्तित्व-विकास एवं जन-जागरण हेतु विभिन्न प्रकार के कार्यक्रम किये गये। महासमुन्द में कई विद्यालयों के हजारों बच्चों की रैली विभिन्न स्कूल-ड्रेस पहने हुये निकाली गयी, जिसमें बीच-बीच में बच्चे स्वामी विवेकानन्द के वेश में सजे हुये थे।

छत्तीसगढ़ में अखिल भारतीय युवा-सम्मेलन का आयोजन

स्वामी विवेकानन्द जी की १५०वीं जन्म-जयन्ती के उपलक्ष्य में १३ जून से १५ जून, २०१३ तक रामकृष्ण मिशन आश्रम, नारायणपुर के द्वारा अखिल भारतीय युवा सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसमें २० राज्यों के करीब ४००० युवक-युवतियों ने सोत्साह भाग लिया। शिविर अपने उद्देश्य में सफल रहा और देश के कोने-कोने से आये भविष्य के नव-भारत और माँ भारती के वीर सन्तानों ने चरित्रवान बनने, राष्ट्रभक्त बनने, स्वामी विवेकानन्द के सपनों का भारत का निर्माण कर विश्व में शान्ति-प्रेम की स्थापना की प्रेरणा लेकर अपने-अपने राज्यों को आनन्द के साथ वापस गये।

१३ जून को प्रथम सत्र में वैदिक शान्ति-पाठ के बाद 'छत्तीसगढ़-दर्शन' की दिव्य झाँकी – सुआ नृत्य, आदिवासी लोक नृत्य, राउत नृत्य, देवार नृत्य और शिव-पार्वती विवाह आदि नृत्य-गीत नारायणपुर आश्रम के बालिकाओं द्वारा प्रस्तुत की गयी। उसके बाद चेन्नई मठ के अध्यक्ष स्वामी गौतमानन्द जी की अध्यक्षता में स्वामी व्याप्तानन्द, स्वामी बलभद्रानन्द, स्वामी विश्वात्मानन्द ने स्वामी विवेकानन्द के विचारों से युवकों को अवगत कराया। धन्यवाद ज्ञापन स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने किया। अपराह्न में विवेकानन्द विद्यापीठ, रायपुर के कैलास यादव, महेन्द्र कुर्रे और उनके साथियों के द्वारा डॉ. ओमप्रकाश वर्मा द्वारा लिखित विवेकानन्द गीति का मधुर जनप्रिय गायन हुआ। द्वितीय सत्र में स्वामी निखिलात्मानन जी की अध्यक्षता में स्वामी निखिलेश्वरानन्द, स्वामी आत्मश्रद्धानन्द, स्वामी आत्मविदानन्द, स्वामी स्वयंप्रभानन्द ने व्याख्यान दिये और स्वामी अनुभवानन्द ने धन्यवाद ज्ञापन किया। शाम को लोक-रंग अर्जुनदा के द्वारा स्वामी विवेकानन्द का नाटक प्रस्तुत किया गया।

१४ जून प्रात: ८.४५ बजे से १० बजे तक टी. बी. सेनीटोरियम, राँची के द्वारा गणेश वन्दना, लोकनृत्य आदि सुन्दर सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया। उसके बाद १०.१५ बजे से स्वामी सर्वलोकानन्द जी की अध्यक्षता में स्वामी राघवेन्द्रानन्द, स्वामी आत्मज्ञानन्द, डॉ. सुरुचि पांडेय और स्वामी बोधमयानन्द ने 'नारी-शक्ति और विकास' और 'भारतीय धरोहर की गहरी समझ' पर अपने सारगर्भित व्याख्यान दिये। स्वामी बोधमयानन्द ने तो ३ मिनट तक चार हजार बच्चों से ताली बजवाकर शिकागो-धर्मसभा की पुनरावृत्ति कर दी। धन्यवाद ज्ञापन स्वामी बोधस्वरूपानन्द ने किया। शाम को स्वामी सत्यरूपानन्द जी की अध्यक्षता में १० छात्र प्रतिनिधियों ने व्याख्यान दिया। प्रतीक पांडेय, इंदौर का व्याख्यान प्रभावकारी रहा। स्वामी सर्वस्थानन्द जी ने व्याख्यानों का सार प्रस्तुत किया। शाम ७ से ९ बजे तक छत्तीसगढ़ की बेटी भिलाई निवासी रितु वर्मा की पंडवानी - हनुमान-अर्जुन संवाद से श्रोता झूम उठे।

१५ जून को प्रथम सत्र में स्वामी निखिलात्मानन्द जी की अध्यक्षता में स्वामी बलभद्रानन्द, स्वामी सर्वस्थानन्द और डॉ. ओमप्रकाश वर्मा ने व्याख्यान दिये। नारायणपुर के बच्चों ने कई कार्यक्रम किये। अपराह्न में चेरापूंजी के बच्चों ने नृत्य प्रस्तुत किये। शाम को विदाई समारोह हुआ। जिसमें नारायणपुर आश्रम के सचिव स्वामी व्याप्तानन्द जी ने बच्चों के उज्ज्वल भविष्य की कामना की। स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने बच्चों को व्यावहारिक सुझाव दिये। स्वामी गौतमानन्द जी ने बहुत ही प्रेरक व्याख्यान दिये। बेलूड़ मठ के स्वामी विश्वात्मानन्द जी ने सबको धन्यवाद ज्ञापित किया। शाम ८ से १० बजे तक पपेट थियेटर, कोलकाता ने 'सीताजी' पर मार्मिक पुतुल नृत्य प्रस्तुत किया। ❑❑❑